राजर्षि

डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बँगला उपन्यास
का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक

पण्डित जनार्दन झा

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२८

पाँचवीं आवृत्ति] [मूल्य १)

Printed by E. Hall
at The Belvedere Press,
Allahabad.

Published by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.
Allahabad.

भूमिका

हिन्दी भाषा में ऐसे उपन्यासों की आवश्यकता है जिन्हें पढ़कर स्त्री-पुरुष शिक्षा ग्रहण कर सकें। आज तक हिन्दी में जितने उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं उनमें शिक्षाप्रद कितने हैं? खेद है कि शिक्षाप्रद उपन्यासों की संख्या बहुत कम है। यदि कुछ प्रचार हुआ है तो विशेषतः उन्हीं उपन्यासों का जिन्हें हम अपने गुरुजनों के निकट मुक्त-कण्ठ से पढ़ तक नहीं सकते।

बँगला म अच्छे-अच्छे उपन्यास हैं। यदि उनका अनुवाद हिन्दी में हो तो समाज-सुधार के साथ ही साथ हिन्दी-साहित्य का भी बहुत उपकार हो सकता है।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग के द्वारा अनेक उपयोगी हिन्दी-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और बराबर प्रकाशित होती जाती हैं। इसके लिए समस्त हिन्दी-प्रेमी सज्जनों को उक्त प्रेस के स्वामी, श्रीमान् बाबू चिन्तामणि घोष, का हृदय से कृतज्ञ होना चाहिए। उन्हीं की कृपा से यह राजर्षि हिन्दी में प्रकाशित होकर हिन्दी- प्रेमियों की सेवा में समर्पित किया जाता है।

बँगला के प्रसिद्ध लेखक डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम कौन नहीं जानता? उन्हीं की उदार लेखनी से यह महत्त्वपूर्ण, शिक्षा से भरा हुआ, इतिहास-मूलक राजर्षि उपन्यास निकला है।

इस उपन्यास की सरसता से अब तक प्रायः बँगला के पाठक

ही परिचित थे किन्तु इसका अनुवाद हिन्दी में हो जाने से अब हिन्दी के सहृदय पाठक भी इसकी सरसता का आस्वादन कर सकते हैं।

इस उपन्यास में त्रिपुरा के महाराज गोविन्दमाणिक्य की उदारता का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। गोविन्दमाणिक्य ने राजा होकर भी सदा ऋषियों के समान आचरण किया। वे कभी राजमद में लिप्त नहीं हुए। प्रजा का उपकार करना ही उनका मुख्य व्रत था। उन्होंने प्रजा की भलाई के कितने ही अच्छे अच्छे काम किये। वे चाहते थे कि उनके राज्य में कोई मूर्खता का काम न करे; ऐसा कोई अनुचित कार्य न होने पावे जिससे किसी का कुछ अनिष्ट हो; सभी लोग भ्रातृभाव से सुखपूर्वक रहें। किन्तु अच्छे कामों में विघ्न डालनेवालों की कमी नहीं रहती। महाराज गोविन्दमाणिक्य के पुरोहित रघुपति ठाकुर ने उनसे विरुद्ध होकर उन्हें विपत्ति में फँसाने के लिए क्या-क्या षड्यन्त्र किये और अन्त में फिर उसका परिणाम क्या हुआ, इन सब बातों का उल्लेख ग्रन्थकर्त्ता ने इस उपन्यास में बड़े महत्त्व के साथ किया है। यह उपन्यास मानो हृदय-कपाट के अज्ञानरूपी ताले को खोलने की एक अनमोल कुञ्जी है। यह उपन्यास साधारण उपन्यास नहीं, इसका आशय और इसका उद्देश्य बहुत बड़ा है, जिसे सत्त्वगुणी लोग समझ कर अपने देश और धर्म का बहुत कुछ सुधार कर सकते हैं।

मैंने इस उपन्यास का, जहाँ तक हो सका, अविकल अनुवाद

करने की चेष्टा की; किन्तु रोचकता भङ्ग होने के डर से कहीं-कह कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा। इसकी रोचकता पाठकों के विचारों पर अवलम्बित है। पाठकगण यदि इस उपन्यास को पढ़कर प्रसन्न होंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

अनुवादक

———

राजर्षि

पहला परिच्छेद

भुवनेश्वरी देवी के मन्दिर का घाट पत्थर का बना है। वह गोमती नदी के भीतर तक चला गया है। एक दिन सबेरे गरमी के मौसम में त्रिपुरा के महाराज गोविन्दमाणिक्य स्नान करने आये। उनके साथ उनके भाई नक्षत्रराय भी थे। उसी समय एक छोटी सी लड़की, अपने छोटे भाई को साथ लिये, उस घाट पर आई। उसने राजा का दुपट्टा पकड़ कर पूछा—तुम कौन हो ?

राजा ने मुसकुरा कर कहा—तुम्हारा सेवक हूँ।

बालिका ने कहा—मुझे पूजा के लिये फूल तोड़ दो।

राजा ने कहा—अच्छा, चलो।

राजा के नौकर-चाकर चकित होकर बोले—महाराज क्यों जायँगे, हमी लोग फूल तोड़े देते हैं। हम किसलिए हैं।

राजा ने कहा—इसने मुझसे कहा है, इसलिए मैं ही तोड़ूँगा।

राजा ने उस लड़की के मुँह की ओर ध्यान से देखा। उस दिन का विमल उषःकाल जैसा शोभायमान था वैसा ही शोभायमान उस लड़की का मुँह भी था।

जिस समय वह कुमारिका राजा का हाथ पकड़े मन्दिर के पास फुलवाड़ी में घूम रही थी उस समय चारों ओर खिले हुए बेला के स्वच्छ फूलों के सदृश उसके प्रफुल्ल मुँह से मानो एक प्रकार का सुगन्ध जङ्गल में फैल रहा था। छोटा लड़का भी अपनी बहन का कपड़ा हाथ से पकड़े उसके साथ-साथ घूम रहा था। वह केवल अपनी बहिन को ही जानता था। राजा के साथ उसका विशेष परिचय नहीं हुआ।

राजा ने बालिका से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है ?

बालिका ने कहा—हासी।

राजा ने उस छोटे लड़के से भी नाम पूछा। लड़का अपनी बड़ी बड़ी आँखें मलकर बहन के मुँह की ओर देखने लगा। उसने कुछ जवाब न दिया।

हासी ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—कह न दो भाई, मेरा नाम ताता है।

लड़का अपने छोटे-छोटे होठों को खोल कर धीरे से बोला—"मेला लाम ताता है।" अब उसने बहन के कपड़े को और भी जोर से पकड़ लिया।

हासी ने राजा को समझा कर कहा—'यह अभी बच्चा है न, इसी से सब लोग इसे ताता कहते हैं। फिर छोटे भाई की ओर देखकर बोली—अच्छा मन्दिर तो कहो।

लड़का बहन की ओर देखकर बोला—लदन्द।

हासी ने हँसकर कहा—ताता अभी स्पष्ट रूप से मन्दिर नहीं कह सकता, इसी से "लदन्द" कहता है। अच्छा, कलाई तो कहो।

लड़का ठहर कर बोला—बलाइ।

हासी फिर हँसकर कहने लगी—'ताता हम लोगों की तरह कलाई नहीं कह सकता; "बलाई" कहता है।' अब हासी ने बारम्बार चुम्मा लेते-लेते ताता को चञ्चल कर दिया।

ताता को बहन की इतनी हँसी और इतने प्यार का कोई कारण ढूँढ़ने पर भी न मिला। वह केवल अपने विशाल नेत्रों को मल कर देखता रहा। यथार्थ में मन्दिर और कलाई शब्द के उच्चारण में ताता ने बिलकुल भूल की; इसे कोई नामञ्जूर नहीं कर सकता। ताता की इतनी उम्र में हासी मन्दिर को लदन्द नहीं कहती थी। वह मन्दिर को पाल्द कहती थी। कलाई को वह बलाई कहती थी या नहीं, यह मालूम नहीं, किन्तु कौड़ी को घई कहती थी। जो हो, ताता का ऐसा विचित्र उच्चारण सुनकर उसको अधिक हँसी आवेगी, इसमें अब आश्चर्य ही क्या।

ताता के सम्बन्ध की अनेक घटनाएँ वह राजा से कहने लगी। किसी समय एक बूढ़ा आदमी कम्बल ओढ़े आया था। ताता ने उसे भालू कहा था। ताता की ऐसी अज्ञता! और एक बार ताता ने शरीफ़ा के फलों को चिड़िया समझकर अपने मोटे-मोटे छोटे-छोटे हाथों से, ताली बजाकर, उन्हें उड़ा देने की चेष्टा

की थ । हासी की अपेक्षा ताता निरा अबोध बालक है। इस बात को ताता की बहन ने सविस्तर, उदाहरण द्वारा, भली भाँति साबित कर दिया। ताता अपने सम्बन्ध की सभी बातें ध्यान देकर सुन रहा था। जहाँ तक वह समझ सका उसमें मनस्ताप का कोई कारण उसे नहीं मिला। इसी प्रकार उस दिन सबेरे फूल तोड़ने की विधि समाप्त हुई। राजा ने जब उस छोटी बालिका के आँचल को फूलों से भर दिया तब उन्होंने जाना कि मानो मेरी पूजा पूरी हो गई। इन्हीं दोनों सरल हृदयों के स्नेह का दृश्य देखकर, इस पवित्र हृदय की आशा पूरी करके, और फूलों का सञ्चयन करके, मानो उनके देवपूजन का काम पूरा हुआ।

तीसरा परिच्छेद

एक दिन की थोड़ी सी देर की मुलाक़ात से ही उन दोनों भाई-बहनों पर राजा का इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे प्रातःकाल जब पहले उन दोनों का मुँह देख लेते थे, उनसे मिल लेते थे, तब चारपाई से उठते थे। प्रतिदिन का यह नियम था कि जब तक उनको फूल तोड़कर नहीं देते थे तब तक वे स्नान नहीं करते थे। वे दोनों भी राजा के साथ ऐसे हिल-मिल गये थे कि जब तक राजा स्नान किया करते थे तब तक वे भी घाट पर ही बैठे-बैठे उनके स्नान का तमाशा देखा करते थे। और, जिस दिन दुर्भाग्यवश राजा को उन दोनों

का दर्शन नहीं होता था उस दिन ऐसा मालूम होता था कि आज राजा का नित्य-कर्म अधूरा रह गया।

हासी और ताता दोनों बे-माँ-बाप के थे। उनके केवल एक चचा था। चचा का नाम था केदारेश्वर। उस के भी और कोई बाल-बच्चा न था। बस, यही दोनों बालक उसके अवलम्ब और सुख की सामग्री थे।

एक वर्ष और व्यतीत हो जाने पर ताता, अब, मन्दिर शब्द का उच्चारण ठीक-ठीक करने लगा; किन्तु कलाई को अब तक बलाई ही कहता है। कारण यह कि अभी वह अच्छी तरह बोलना नहीं जानता। गोमती नदी के किनारे जब उस की बहन एक वृक्ष के नीचे पाँव पसार कर बैठती और कोई कहानी कहने लगती तब ताता उसे बड़े ध्यान से सुनता था। उन बे-सिर-पैर की कहानियों को सुनकर न जाने वह क्या समझता था। एक वृक्ष के नीचे खुली हवा में बैठे हुए नन्हें से बालक के कोमल हृदय में कहानी सुन कर कैसे-कैसे भाव उदित होते थे, उन्हें हम लोग नहीं जान सकते। ताता में एक और बड़ी विचित्र बात थी। वह यह कि वह किसी और लड़के के साथ नहीं खेलता था। वह सदा अपनी बहन के साथ ही छाया की तरह फिरा करता था।

आषाढ़ का महीना है। सबेरे से आकाश बादलों से घिरा हुआ है। पानी तो अभी नहीं बरसता, किन्तु बरसने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। दूर देश में कहीं अवश्य वर्षा हुई

है; नहीं तो हवा में ऐसी ठण्डक कहाँ से आती ? गोमती नदी के जल में और दोनों किनारों के जङ्गल में काले आसमान की छाया पड़ रही है। कल अमावस थी। इसी से भुवनेश्वरी की पूजा कल हो चुकी।

हासी और ताता के हाथ पकड़े हुए राजा नियमित समय पर स्नान करने आये। लोहू की धार बहने की एक लकीर उजले पत्थर के बँधे हुए घाट की सीढ़ियों पर होती हुई गोमती के जल में जाकर विलीन हो गई है। कल रात में जो एक सौ एक भैंसों का बलिदान हुआ था, उन्हीं का यह लोहू था हासी ने उस लोहू के दाग़ को देखकर आश्चर्य्य कर के राजा से पूछा—"यह कैसा दाग़ है ?" राजा ने कहा—"यह लोहू का दाग़ है।" उसने कहा—"इतना लोहू !" इस तरह अधीर सी होकर बालिका ने पूछा—"इतना लोहू क्यों ?" राजा के हृदय में भी यही प्रश्न उठने लगा कि वास्तव में "इतना लोहू क्यों ?" वे एकाएक काँप उठे। बहुत दिनों से वे प्रति वर्ष लोहू की धार बहते देखते आते हैं सही, किन्तु आज एक छोटी सी लड़की के मुँह से यह प्रश्न सुनकर उनके मन में भी सन्देह होने लगा—"इतना लोहू क्यों ?" वे उत्तर देना भूल गये और अन्यमनस्क होकर स्नान करते-करते इसी प्रश्न का सोचने लगे। उन्होंने मनही मन कहा—गोमती तू प्रति वर्ष कई सौ असहाय निरपराधी जीवों का लोहू वहन करती आती है फिर तेरा जल ऐसा स्वच्छ क्यों है ?

हासी सीढ़ी पर बैठी-बैठी अपने आँचल को पानी से भिगाकर धीरे-धीरे लोहू का दाग़ मिटाने लगी। उस की देखा-देखी ताता भी अपने नन्हें-नन्हें हाथों से वैसा ही करने लगा। हासी का वस्त्र लोहू से बिलकुल लाल हो गया। जितनी देर में राजा ने स्नान किया उतनी देर में उन्हों ने लोहू के दाग़ को धोकर साफ़ कर दिया। वहाँ से लौटकर घर पहुँचते ही हासी को ज्वर हो आया। पास बैठकर ताता अपनी दो छोटी उँगलियों से बहन की झँपी हुई आँखों की पलकें खोलने की चेष्टा करके बीच-बीच में "बहन-बहन" पुकारने लगता है। इस प्रकार पुकारे जाने पर वह चौंक कर जाग सी उठती है और "ताता क्या है" कहकर उस को अपने पास खींचती है। उसकी आँखें फिर झँप जाती हैं। ताता बड़ी देर तक चुपचाप बहन के मुँह की ओर देखता रहा, कुछ बोला नहीं। आख़िर बड़ी देर के बाद धीरे-धीरे बहन के गले से लिपट कर उसके मुँह के पास अपना मुँह ले जाकर धीरे से बोला—"बहन, तू उठेगी नहीं?" हासी चौंककर जाग उठी। उसने ताता को छाती से लगा कर कहा, "लल्ला, क्यों न उठूँगी।" परन्तु अब उस को उठने का सामर्थ्य कहाँ! ताता के छोटे से हृदय पर मानो अन्धकार छा गया। उसका दिन भर का खेलना-कूदना और आनन्द की आशा बिलकुल ही मिट्टी में मिल गई। आकाश घोर अन्धकार से व्याप्त हो गया। घर के छप्पर पर कुछ-कुछ पानी पड़ने का शब्द सुनाई देने

लगा। वह देखो, सामने इमली का पेड़ भीग गया। रास्ते में कोई राहगीर नहीं देख पड़ता। केदारेश्वर एक वैद्य को अपने साथ लाये हैं। वैद्य ने नाड़ी देखी तो उनको लक्षण अच्छा नहीं जान पड़ा।

उसके दूसरे दिन स्नान करने के लिए आकर राजा ने देखा, आज उनके इन्तज़ार से वे दोनों भाई-बहन मन्दिर में नहीं हैं। मन में सोचा कि इस भयङ्कर बदली के सबब वे दोनों नहीं आ सके। स्नान, तर्पण समाप्त करके राजा पालकी पर सवार हुए। उन्होंने कहारों को केदारेश्वर के घर की ओर चलने की आज्ञा दी। नौकरों को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु राजा की आज्ञा पर कोई कुछ बोल न सका। राजा की सवारी जब केदारेश्वर के आँगन में पहुँची तब उस के घर में बड़ी ही धूम मची।

उस गोलमाल में रोगी की बीमारी की किसी को ख़बर ही न रही। केवल ताता वहाँ से नहीं हटा। वह अपनी बेहोश बहन की गोद के पास ही, उसके कपड़े का एक छोर मुँह में दबाये, चुपचाप बैठा रहा। राजा को घर में आते देखकर ताता ने पूछा—"क्या हुआ है?" हृदय उद्विग्न होने के कारण राजा ने कुछ भी उत्तर न दिया। ताता ने फिर गर्दन झुला-झुलाकर पूछा—"क्या बहन को चोट लग गई है?" उसके चचा केदारेश्वर ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"हाँ, चोट लगी है।" ताता ने अब बहन की गोद के पास जाकर

उसके मुह को उठाने की चेष्टा करते हुए गले से लिपटकर पूछा, "बहन, तुम्हें किस जगह चोट लगी है ?" इस प्रश्न का अभिप्राय उसके मन में यही था कि जिस जगह चोट लगी है उस जगह मुँह से फूँककर और हाथ फेरकर बहन के समस्त कष्ट को दूर कर दें; लेकिन बहन ने जब कुछ उत्तर न दिया तब उससे और सहा नहीं गया। उसके दोनों छोटे-छोटे होठ उत्तरोत्तर फूलने लगे। जब उससे न रहा गया तब वह रोकर बोला—"कल छे मैं बैठा हूँ, कुछ बोलती क्यों नहीं ? मैंने क्या बिगाला है जो मेले ऊपल इतनी खपा होती हो ?" राजा के सामने ताता का यह व्यवहार देखकर केदारेश्वर बड़े ही व्यग्र हुए और क्रोध के साथ उसका हाथ पकड़ कर उसे दूसरे कमरे में उठा ले गये। तब भी हासी कुछ न बोली।

राजवैद्य बीमारी बिगड़ जाने की बात पहले ही आकर कह गये थे। राजा स्वयं उस लड़की के सिरहाने बैठ गये। शाम होने पर लड़की बकने लगी—"हाय-हाय ! इतना लोहू क्यों ?" राजा ने कहा—"मैं, इस रक्त-प्रवाह को दूर करूँगा।" बालिका फिर बोली—"आओ भाई ताता, हम तुम दोनों मिलकर इस लोहू को मिटा डालें।" शाम होने के कुछ ही देर बाद हासी ने एक बार आँखें खोली थीं। आँखें खोलकर उसने एक बार चारों ओर इस तरह देखा मानो वह किसी को ढूँढ़ रही है। उस समय ताता दूसरे कमरे में रोते-रोते सो गया था। जब हासी को कोई न देख न पड़ा तब उसने आँखें बन्द कर लीं।

बस, उस समय जो आँखें बन्द हुईं सो फिर कभी नहीं खुलीं। उसी दिन, आधी रात के समय, राजा की गोद में पड़ी हुई हासी के प्राण-पखेरू उड़ गये। जिस समय लोग सदा के लिए हासी को घर से बाहर ले गये थे उस समय ताता नींद में अचेत पड़ा था। यदि ताता उस समय जागता होता तो वह अपनी बहन के पीछे छाया की तरह अवश्य चला जाता।

तीसरा परिच्छेद

राजा सभा में बैठे हैं। भुवनेश्वरी देवी के मन्दिर का पुरोहित (पुजारी) किसी कार्यवश उनके पास आया है। पुरोहित का नाम रघुपति है। इस देश में पुरोहित को लोग चोन्ताई कहते हैं। भुवनेश्वरी देवी की पूजा होने के चौदह दिन बाद निःशब्द रात्रि में चौदह देवताओं की एक और पूजा होती है। इस पूजा के समय रात में कोई घर के बाहर नहीं निकल सकता। राजा भी नहीं निकल सकते। यदि राजा घर के बाहर जायँ तो पुरोहित के निकट अर्थदण्ड (जुर्माना) देना पड़े। किंवदन्ती है कि उस पूजा की रात में नरबलि होती है। उस पूजा के उपलक्ष में सबसे पहले जिन पशुओं का बलिदान होता है वे राजा से, राजभवन-सम्बन्धी दान के रूप में, लिये जाते हैं। पुरोहित बलिदान के लिए राजा के पास पशु लेने आया है। पूजा के अब बारह दिन रह गये हैं।

राजा ने कहा—"इस साल से मन्दिर में जीव-हिंसा न होगी।" यह सुनकर सब लोग अवाक् रह गये।

पुरोहित रघुपति ने कहा—क्या मैं यह स्वप्न देखता हूँ?

राजा—नहीं महाशय, अब तक हम लोग स्वप्न देखते थे। अब हमारी आँखें खुली हैं। एक बालिका का स्वरूप धारण करके भगवती ने मुझको दर्शन दिये हैं। वह कह गई है कि मैं दयामयी जगन्माता हूँ। मैं अब अपने जीवों का रक्तपात नहीं देख सकती।

रघुपति—तब इतने दिनों से देवी क्यों जीवों का रक्तपान करती थी?

राजा—नहीं, वह पान नहीं करती। तुम लोग जीवों को मारकर जब लोहू बहाते हो तब वह मुँह फेर लेती है।

रघुपति—महाराज, आप राज-काज को अच्छी तरह समझते हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु पूजा की बात आप कुछ भी नहीं जानते। इस विषय में यदि भगवती को कुछ अप्रसन्नता होती तो मैं ही पहले इस बात को जानता।

नक्षत्रराय, बड़े ज्ञानी की तरह सिर हिलाकर, बोले—हाँ, यह बात ठीक है। देवी की यदि कुछ अप्रसन्नता होती तो पहले पुरोहित को ही यह बात विदित होती।

राजा—जिसका हृदय कठोर हो गया है वह देवी की बात नहीं सुन सकता।

रत्नत्रराय ने पुरोहित के मुँह की ओर देखा। उसका मतलब यही है कि इस बात का जवाब कुछ ज़रूर देना चाहिए।

रघुपति मारे क्रोध के आग-बबूला होकर बोला—आप तो भ्रष्टाचारी नास्तक की तरह बातें कर रहे हैं।

क्रोधाग्नि से प्रज्वलित पुरोहित के मुँह की ओर देखकर गोविन्दमाणिक्य बोले—महाशय, राजसभा में बैठकर आप अपने समय को वृथा नष्ट कर रहे हैं। आप मन्दिर में जाकर अपना काम कीजिए। जाते समय रास्ते में इस बात का प्रचार कर दीजिएगा कि मेरे राज्य में जो कोई देवता के निकट जीव-बलि देगा उसको देश-निकाले की सज़ा मिलेगी।

तब रघुपति काँपते-काँपते उठ खड़ा हुआ और यज्ञोपवीत को छूकर बोला—जाओ, अब तुम्हारा नाश हो।

पुरोहित को शाप देते सुनकर चारों तरफ से हा! हा! करते हुए सभासद् उस पर टूट पड़े। राजा ने संकेत से सब को मना किया। सब लोग अलग जा खड़े हुए।

रघुपति कहने लगा—तुम राजा हो, तुम चाहो तो प्रजा का सर्वस्व हरण कर सकते हो। इसी से क्या भगवती का बलि भी हरण कर लोगे? तुम्हारा सामर्थ्य क्या है? देवी के सेवक रघुपति के रहते किस प्रकार तुम पूजा में विघ्न करते हो, मैं भी तो देखूँगा।

मन्त्री (दीवान) राजा के स्वभाव से भली भाँति परि-चित थे। वे जानते थे कि किसी बात का सङ्कल्प कर लेने पर

राजा उसको जरूर पूरा करते हैं। उन्होंने धीरे-धीरे दरबार में कहा —"महाराज, आपके स्वर्गीय पूर्व-पुरुष देवी के आगे नियमित रुप से बराबर बलि देते आये हैं। इसमें एक बार भी कभी अन्यथा नहीं हुआ।" इतना कहकर वे चुप हो गये।

राजा कुछ नहीं बोले। मन्त्री ने कहा—आज इतने दिनों के बाद आपके पूर्व पुरुषों के द्वारा संस्थापित इस प्राचीन पूजा में बाधा होने से स्वर्ग में वे पितर लोग अप्रसन्न होंगे।

महाराज सोचने लगे। नक्षत्रराय अपनी पण्डिता बघारते हुये बोले—हाँ, स्वर्ग में पितर अप्रसन्न होंगे।

मन्त्री ने फिर कहा—महाराज एक काम करें, जहाँ हजार बलिदान होते हैं वहाँ अब एक ही सौ बलि की आज्ञा दी जाय।

सभासद्‌गण वज्राहत की तरह अवाक् हो रहे। गोविन्द-माणिक्य भी बैठकर इस बात को विचारने लगे। रुष्ट रघुपति अधीर हो कर दरबार से जाने लगा।

उसी समय द्वारपालों के हाथ से किसी प्रकार बचकर नङ्ग-धड़ङ्ग एक छोटा सा लड़का दरबार में आया। उसके बदन पर न कोई कपड़ा था, न पैरों में जूता। राज-दरबार के बीच में खड़ा होकर, अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से राजा के मुँह की ओर देखकर, वह लड़का कहने लगा—बहन कहाँ है?

उस बड़े दरबार के सभी लोगों के ऊपर मानो सन्नाटा छा गया। एक छोटे लड़के की कण्ठध्वनि उस बिशाल सभा-भवन में प्रतिध्वनित हो उठी—बहन कहाँ है?

राजा ने तुरन्त सिंहासन से नीचे उतरकर लड़के को गोद में उठा लिया। फिर उन्होंने उच्च स्वर से मन्त्री से कहा—आज से मेरे राज्य में बलिदान नहीं हो सकेगा। इसी पर अब कुछ मत बोलो।

मन्त्री ने कहा—जो महाराज की आज्ञा।

ताताने राजा से फिर पूछा—मेरी बहन कहाँ है।

राजा ने कहा—देवी के पास।

ताता बड़ी देर तक मुँह में उँगली डाले चुपचाप खड़ा रहा। उस समय उसको ऐसा मालूम हुआ मानो उसे अपनी बहन का सच्चा पता मिल गया। उस दिन से राजा ने ताता को अपने ही पास रख लिया और उसके वृद्ध चचा केदारेश्वर को भी वहीं महल में रहने को जगह दे दी।

सभासद् लोग आपस में यों वाद-विवाद करने लगे—भाई, यह तो मग का मुल्क हो गया। हम लोग तो जानते हैं कि बौद्ध और मग जाति के ही लोग रक्त-पात नहीं करते। क्या अब हमारी हिन्दू-जाति के देश में भी वही रीति जारी होगी?

नक्षत्रराय भी उन्हीं लोगों की राय में राय मिलाकर बोले—हाँ, हिन्दुओं के देश में भी क्या यही रीति जारी होगी!

सब लोगों ने निश्चय किया कि अवनति का लक्षण इससे बढ़कर और क्या हो सकता है! मग जाति और हिन्दुओं में अब क्या फ़र्क़ रह गया!

चौथा परिच्छेद

भुवनेश्वरी-मन्दिर के नौकर का नाम जयसिंह है। वे जाति के राजवंशी क्षत्रिय हैं। उनके बाप सुचेतसिंह त्रिपुरा राजधानी में एक पुराने नौकर थे। सुचेतसिंह की मृत्यु के समय जयसिंह निरे बालक थे। उस असहाय बालक को राजा ने मन्दिर के काम में भरती किया था। मन्दिर के पुजारी रघुपति ने ही जयसिंह का पालन कर शिक्षा दी है। लड़कपन से ही मन्दिर में रक्षित होने के कारण जयसिंह मन्दिर को अपना घर मानते थे। मन्दिर की कोई ज़गह ऐसी न थी जिसे वे न जानते हों, अर्थात् मन्दिर के सभी गुप्त और प्रकट स्थानों से वे भली भाँति परिचित थे। उनकी माँ जीती न थी। भुवनेश्वरी की प्रतिमा को ही वे माँ समझते थे। प्रतिमा के सामने बैठकर वे बातें किया करते थे। उन्होंने कभी अपने को अकेला नहीं समझा। उनके और भी कितने ही साथी थे। मन्दिर के पास वाले बग़ीचे के कितने ही पेड़ों को उन्होंने अपने हाथ से लगाकर बड़ा किया है। चारों ओर उनके लगाये वृक्ष बढ़ रहे हैं। उन पर लताएँ चढ़ रही हैं। शाखाएँ प्रफुल्लित हो रही हैं। छाया फैलती जाती है। उन हरी-हरी लताओं से सारा जङ्गल हरा-हरा हो रहा है। किन्तु ये सब जयसिंह के हृदय की बातें हैं। उनके इस प्राकृतिक अनुराग की बात को विशेष रूप से कोई नहीं जानता था। वे

अपने विशेष बल और साहस के ही द्वारा लोगों में विख्यात थे।

मन्दिर के काम-काज से निवृत्त होकर जयसिंह अपने घर के द्वार पर बैठे हैं। सामने वाटिका है। दिन ढल गया है। ख़ूब ज़ोर से घटा घिर आई। पानी बरस रहा है। नवीन वृष्टि के जल से जयसिंह के पेड़-पौदे स्नान कर रहे हैं। हर एक पत्ते पर वर्षा की बूँदों के नाचने का उत्सव हो रहा है। वर्षा के पानी की छोटी-छोटी सैकड़ों धाराएँ मिलकर शब्द करती हुई गोमती नदी में जाकर गिर रही हैं। जयसिंह बड़ी ख़ुशी के साथ बैठे हुए अपने उपवन की शोभा देख रहे हैं। चारों ओर काली-काली मेघ-मालाओं की छटा, वन की छाया, पल्लवों की श्यामल श्री, मेढकों की आवाज़ें और लगातार पानी बरसने का झर-झर शब्द—बस, जङ्गल में इस प्रकार नूतन वृष्टि की घटा का आडम्बर देख उनका हृदय आनन्द से उमड़ रहा है।

उसी समय वर्षा में भीगता हुआ रघुपति आ पहुँचा। जयसिंह ने फुर्ती से उठकर पैर धोने के लिए पानी और पहनने के लिए सूखा कपड़ा ला दिया। रघुपति बिगड़कर बोला—"तुमको कपड़ा लाने के लिए किसने कहा।" उसने कपड़े को घर में फेंक दिया। जयसिंह पैर धोने के लिए पानी लेकर आगे आ खड़े हुए। रघुपति ने क्रोध में कहा—"ठहरो, ठहरो, तुम उस पानी को रख दो।" बस, उसने पाँव से पानी के बर्तन को लुढका दिया। जयसिंह एकाएक इस

बात का कारण कुछ न समझ कर दङ्ग रह गये। वे कपड़े को धरती से उठाकर यथास्थान रखने लगे। रघुपति फिर ग़ुस्सा होकर बोला– "ठहरो, ठहरो, तुम उस कपड़े को मत छुओ।" अब वह ख़ुद धोती उठा लाया। अपने हाथ से पानी लाकर उसने पैर धोये। तब जयसिंह ने धीरे-धीरे कहा—"प्रभो, मैंने क्या कुछ अपराध किया है?" रघुपति कुछ टेढ़ा होकर बोला—"कौन कहता है, तुमने अपराध किया है?" जयसिंह दुखी होकर चुपचाप बैठे रहे। रघुपति व्याकुल-चित्त से घर के बाहर इधर-उधर घूमने लगा। इसी तरह रात अधिक बीत गई। फिर पानी बरसने लगा। आख़िर रघुपति ने जयसिंह की पीठ पर हाथ रखकर नम्रता से कहा—"रात बहुत हो गई, जाओ अब सो रहो।" जयसिंह ने रघुपति के मधुर वचनों से प्रसन्न होकर कहा—"पहले आप सोवें, फिर मैं भी चला जाऊँगा।" रघुपति ने कहा—मुझको अभी देर है। देखो, आज मैंने तुम्हारे साथ बड़ी ही सख़्ती की है। इसका कुछ ख़याल न करना। मेरा चित्त उस समय अच्छा नहीं था। मैं कल तुमसे सविस्तर समाचार कहूँगा। अभी तुम सो रहो।

"जो आज्ञा" कहकर जयसिंह सोने चले गये।

रघुपति सारी रात टहलता रहा।

सबेरे जयसिंह गुरु (रघुपति) को प्रणाम कर उसके सामने खड़े हुए।

रघुपति ने कहा—जयसिंह, देवी का बलिदान बन्द हो गया।

जयसिंह ने अचम्भे में आकर कहा—प्रभो, यह क्या बात है?

रघुपति—राजा का ऐसा ही हुक्म हुआ है।

जयसिंह—किस राजा का?

रघुपति ने रुखाई के साथ कहा—इस जगह राजा कै गण्डे हैं? गोविन्दमाणिक्य ने हुक्म दिया है कि देव-मन्दिर में जीव-बलिदान नहीं होगा।

जयसिंह—नरबलि?

रघुपति—क्यों दिक़ करते हो! मैं जीव-बलि कह रहा हूँ। तब फिर नर-बलि की बात क्या पूछते हो?

जयसिंह—किसी भी जीव का बलिदान नहीं होगा?

रघुपति—नहीं।

जयसिंह—तो महाराज गोविन्दमाणिक्य ने ऐसा ही हुक्म दिया है?

रघुपति—हाँ, हाँ, एक ही बात कितनी बार पूछोगे!

जयसिंह बड़ी देर तक कुछ न बोले। वे केवल अपने मन में कहने लगे—महाराज गोविन्दमाणिक्य, तुम धन्य हो।

गोविन्दमाणिक्य को जयसिंह बचपन से ही देवता करके मानते थे। आकाशस्थित पूर्णचन्द्र के ऊपर बालकों का जैसा स्वाभाविक अनुराग होता है वैसा ही गोविन्दमाणिक्य के ऊपर जयसिंह के मन का भाव था। गोविन्दमाणिक्य का

शान्त भाव से भरा हुआ सुन्दर मुख देखकर जयसिंह उस पर अपने प्राण तक न्योछावर कर सकते थे।

रघुपति ने कहा—इसका कोई उपाय तो ज़रूर करना होगा।

जयसिंह—ठीक है। मैं महाराज के पास जाऊँ और उनसे विनयपूर्वक कहूँ कि—

रघुपति—व्यर्थ होगा।

जयसिंह—तब क्या करना होगा?

रघुपति कुछ देर तक सोचकर बोला—कल कहूँगा। कल तुम सबेरे नक्षत्र राय के पास जाकर उन्हें गुप्त रीति से मुझसे मिलने को कहना।

पाँचवाँ परिच्छेद

सबेरे नक्षत्र राय ने आकर रघुपति को प्रणाम करके पूछा—क्या आज्ञा है?

रघुपति—तुम्हारे लिए भगवती की आज्ञा है। पहले भगवती को प्रणाम करने चलो।

दोनों मन्दिर में गये। जयसिंह भी उनके साथ-साथ गये। नक्षत्र राय ने भुवनेश्वरी की मूर्त्ति के सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणाम किया। रघुपति ने नक्षत्र राय से कहा—कुमार, तुम राजा बनोगे।

"क्या कहा महाराज, मैं राजा बनूँगा? आप जो कहते

हैं उसका कुछ निश्चय नहीं।" यह कहकर नक्षत्र राय ख़ूब ज़ोर से हँसने लगे।

रघुपति—मैं कहता हूँ, तुम ज़रूर राजा बनोगे।

"आप कह रहे हैं, मैं ज़रूर राजा बनूँगा।" यह कहकर नक्षत्र राय रघुपति के मुह की ओर देखने लगे।

रघुपति—तो क्या मैं तुमसे झूठ कह रहा हूँ?

नक्षत्र राय—आप झूठ तो नहीं कहते, पर यह बात होगी क्योंकर? देखिए महाशय, कल मैंने मेंढक का सपना देखा है। अच्छा, सपने में मेंढक देखने से क्या होता है?

रघुपति ने हँसी रोककर कहा—कैसा मेंढक देखा? उसके सिर पर चिह्न था न?

नक्षत्र राय ज़ोर देकर बोले—हाँ, उसके सिर पर चिह्न तो था।

रघुपति—हाँ, तब तो राज का टीका तुमको ज़रूर मिलेगा।

नक्षत्र राय—तो राज का टीका मुझको मिलेगा। आप कह रहे हैं न? मुझको राज्य मिलेगा। और, यदि न मिले तो?

रघुपति—क्या मेरी बात झूठी हो जायगी?

नक्षत्र राय—नहीं, नहीं, मैं यह बात नहीं कहता। मुझको राजतिलक प्राप्त होगा; यह तो आप कही रहे हैं। किन्तु मान लीजिए, यदि न हो। क्या दैववश ऐसा नहीं हो सकता कि.....

रघुपति बात काटकर बोला—नहीं नहीं, यह बात झूठ नहीं हो सकती।

नक्षत्र राय—जब आप ऐसा कहते हैं तब यह निःसन्देह मिथ्या नहीं हो सकती। अच्छा, राजा हो जाने पर मैं आपको अपना मन्त्री बनाऊँगा।

रघुपति—मैं मन्त्री होना नहीं चाहता।

नक्षत्र राय बड़ी उदारता के साथ बोले—अच्छा, तब राजसिंह को ही मन्त्री बनाऊँगा।

रघुपति—यह बात देखी जायगी। राजा होने के पहले क्या करना होगा, सो तो पहले सुनलो। देवी राजरक्त देखना चाहती हैं। स्वप्न में उन्होंने मुझे यही आज्ञा दी है।

नक्षत्र राय—देवी राजरक्त देखना चाहती हैं! स्वप्न में आपको यही आदेश हुआ है! यह तो अच्छी बात है।

रघुपति—आपको गोविन्दमाणिक्य का लोहू लाना होगा।

नक्षत्र राय किसी तरह "हाँ" करके रह गये। पहले तो उन्होंने कह दिया "अच्छी बात है," पर अब वह बात मन में उतनी अच्छी न लगी।

रघुपति ने कुछ घुड़ककर कहा—क्या तुम्हारे मन में एकाएक भ्रातृस्नेह का उदय हो आया?

नक्षत्र राय ने ऊपरी मन से हँसकर कहा—"अहा हा, भ्रातृस्नेह! आपने तो खूब कहा। वाह रे भ्रातृस्नेह! ऐसी हँसी की बात और क्या होगी। भ्रातृस्नेह! क्या ही शरम

की बात आपने कहा ।" किन्तु अन्तर्यामी भगवान् जानते हैं कि नक्षत्र राय के हृदय में भ्रातृस्नेह जाग रहा है । उसको वे हँसकर नहीं उड़ा सकते ।

रघुपति—उस (भ्रातृस्नेह) के होने पर फिर क्या करोगे, बोलो।

नक्षत्र राय—मैं क्या करूँगा, आप ही कहिए ।

रघुपति—अच्छी तरह इस बात को सुनो, गोविन्दमाणिक्य का लोहू देवी के दर्शनार्थ तुमको लाना होगा ।

नक्षत्र राय मन्त्रोच्चारण की तरह कह गये—गोविन्द-माणिक्य का लोहू देवी के दर्शनार्थ लाना होगा ।

रघुपति ने बड़े अनादर के साथ कहा—नहीं, तुमसे कुछ नहीं हो सकेगा ।

नक्षत्र राय—क्यों नहीं होगा ? जो आप कहिएगा वही होगा । आप आज्ञा देते हैं न ?

रघुपति—हाँ मैं आज्ञा देता हूँ ।

नक्षत्र राय—क्या आज्ञा देते हैं ?

रघुपति रुष्ट होकर बोला—देवी को राजा का रक्त देखने की इच्छा है, इसलिए तुमको गोविन्दमाणिक्य का लोहू दिखलाकर देवी की इच्छा पूरी करनी होगी । यही देवी की आज्ञा है ।

नक्षत्र राय—मैं आज अभी जाकर फ़तेहख़ाँ को इस काम के लिए तैनात करूँगा ।

रघुपति—नहीं, नहीं, इस मामले की रत्ती भर भी ख़बर किसी और को न मिलने पावे। मैं तुम्हारी मदद के लिए जयसिंह को नियुक्त करूँगा। कल सबेरे आना मैं उसी समय काम बनने का उपाय बतलाऊँगा।

नक्षत्र राय रघुपति के पञ्जे से निकलकर वहाँ से तुरन्त चले गये।

छठा परिच्छेद

जब नक्षत्र राय चले गये तब जयसिंह ने कहा—गुरुदेव, ऐसी भयानक बात मैंने कभी नहीं सुनी। आपने जगदम्बा के सामने, जगदम्बा का ही नाम लेकर, भाई के हाथ से भ्रातृवध करने का प्रस्ताव किया और मुझको खड़े होकर वही सुनना पड़ा।

रघुपति—इसके अलावा और उपाय ही क्या है? तुम्हीं कहो।

जयसिंह—उपाय! कैसा उपाय?

रघुपति—देखता हूँ, तुम भी दूसरे नक्षत्र राय हो। इतनी देर तक तुमने वहाँ क्या सुना?

जयसिंह—जो कुछ सुना वह सुनने योग्य न था। उसके सुनने में पाप है।

रघुपति—पाप-पुण्य की बात तुम क्या समझो!

जयसिंह—इतने दिन आपके पास शिक्षा पाई है। क्या अब भी मैं पाप-पुण्य की बात कुछ नहीं समझता ?

रघुपति—सुनो बेटा, अब तुमको एक और उपदेश देता हूँ। पाप-पुण्य कुछ नहीं है। किसका कौन बाप, किसका कौन भाई ? किसी का कोई नहीं। हिंसा यदि पाप है तो सभी हिंसा बराबर हैं। किन्तु कौन कहता है कि हिंसा पाप है ? कितनी ही चींटी आदि छोटे जीवों को हम लोग प्रति-दिन पाँव-तले मसलकर मार डालते हैं। तो क्या हम लोग उनकी अपेक्षा इतने बड़े हैं कि उनकी जान को कुछ न समझें ? हत्या तो प्रतिदिन होती है। कोई सिर पर पत्थर का टुकड़ा गिर जाने से, कोई बाढ़ के पानी में बहकर, और कोई महा-मारी (हैज़ा) के मुँह में पड़ कर मरते हैं। कोई मनुष्य की छुरी के घाव से मरते हैं। इन तुच्छ जीवधारियों का जीवन-मरण कुतूहल के अतिरिक्त और क्या है ? काल-रूपिणी महा माया के निकट ऐसे असंख्य प्राणियों का बलिदान प्रतिदिन हो रहा है। संसार के चारों ओर से जीवों की रक्तधारा उसके विशाल खप्पर में आकर गिरती है। मैंने यदि उस धारा में रक्त की एक और बूँद मिला दी तो क्या अनुचित किया ? किसी न किसी समय तो अपनी बलि को वह लेती ही है। मैं तो उसके बीच में एक निमित्त-मात्र हुआ हूँ !

तब जयसिंह प्रतिमा की ओर देखकर कहने लगे—क्या इसी लिए सब लोग तुमको माँ कहते हैं ! हाय, तुम्हारा

हृदय ऐसा कठोर है। तुमने तो राक्षसियों को भी मात कर दिया। क्या सारे संसार का लोहू निचोड़कर पेट भरने के लिए ही तुम अपनी चञ्चल जीभ को बाहर निकाले रहती हो? तुमने तो स्नेह, प्रेम, ममता, सौन्दर्य और धर्म सभी पर पानी फेर दिया। तुम्हें तो बस बेहद लोहू की प्यास मिटानी है। तुम्हारा ही पेट भरने के लिए मनुष्य मनुष्य के गले पर छुरी फेरेगा; भाई-भाई का ख़ून करेगा; बाप-बेटे परस्पर मार-काट करेंगे। निष्ठुरे, सचमुच यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो मेघ, पानी के बदले, लोहू क्यों नहीं बरसाता? जीवन-प्रदात्री दयारूपिणी नदी रक्त का प्रवाह लेकर समुद्र में क्यों नहीं प्रवेश करती? तब इस संसार में एक-मात्र हिंसा, विद्वेष, महा-मारी और विभीषिका का साम्राज्य क्यों नहीं हुआ? नहीं, नहीं, माँ! तुम प्रत्यक्ष होकर जवाब दो, यह उपदेश मिथ्या है! यह शास्त्र असत्य है! मेरी माँ को माँ न कहकर लोग सन्तान का शोणित पीनेवाली राक्षसी कहें—यह बात मुझसे नहीं सही जायगी।—इतना कहते-कहते जयसिंह की आँखों से आँसू टपकने लगे। वे अपनी बातों को आप ही विचारने लगे। इतनी बातें इसके पहले उनके हृदय में कभी न उठी थीं। यदि रघुपति उन्हें नवीन शास्त्र का अपूर्व उपदेश देने न आता तो ये बातें उनके हृदय में कभी न उठतीं।

रघुपति मुसकुराकर बोला—तब तो बलिदान के सम्बन्ध की सभी बातें एक-दम उठा देनी चाहिएँ।

जयसिंह अपने बचपन से बराबर बलिदान देखते आते हैं। इस कारण, मन्दिर में बलिदान क्या किसी समय बन्द हो सकता है अथवा उसका बन्द होना ठीक है, इन बातों पर उनका मन तनिक भी नहीं लगता। यहाँ तक कि इन बातों का ख़याल आने से उनके हृदय में चोट लगती थी। इसी से जयसिंह ने रघुपति की बात का जवाब दिया—वह बात अलग है। उसका अभिप्राय ही कुछ और है। उसमें कोई पाप नहीं। किन्तु उसके निमित्त भाई-भाई का ख़ून करेगा! उसी के लिए महाराज गोविन्दमाणिक्य को...गुरुदेव, मैं आपके पाँव पकड़कर प्रार्थना करता हूँ। मुझको बहकाइए मत। क्या सचमुच देवी ने स्वप्न में ऐसा कहा है? राजा का रक्त न पाने से क्या उसकी तृप्ति न होगी?

रघपति ज़रा ठहरकर बोला—सचमुच नहीं तो क्या मैं झूठ कहता हूँ? मेरे ऊपर क्या तुम्हारा विश्वास नहीं है?

रघुपति के पैरों की रज को माथे में लगाकर जयसिंह बोले—मान लीजिए कि मेरा विश्वास आपके ऊपर शिथिल नहीं हुआ है। किन्तु नक्षत्र राय का भी जन्म तो राजकुल में ही है।

रघुपति ने कहा—देवताओं का स्वप्न में इशारा-मात्र होता है। सब बातें सुनी नहीं जातीं। बहुत बातें अनुभव के द्वारा ही समझी जाती हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष देख पड़ती है कि गोविन्दमाणिक्य के ऊपर देवी नाराज़ हुई हैं। नाराज़ होने का कारण भी तो है। अतएव जब देवी ने राज-रक्त की

इच्छा प्रकट की है तब यही समझना होगा कि गोविन्दमाणिक्य का ही रक्त वे चाहती हैं।

जयसिंह—यदि यह सच है तो मैं ही राज-रक्त लाऊँगा। नक्षत्र राय को पाप में लिप्त न होने दूँगा।

रघुपति—देवी की आज्ञा का पालन करने में कोई पाप नहीं।

जयसिंह—पाप नहीं तो पुण्य ज़रूर है। उस पुण्य को मैं ही लूटूँगा।

रघुपति—तो सच-सच कहो। देखो बेटा, मैंने तुमको बचपन से ही बड़ी हिफ़ाज़त के साथ, प्राण से भी अधिक प्यार करके, पाला-पोसा है। मैं तुमको खो न सकूँगा। गोविन्दमाणिक्य को मारकर नक्षत्र राय यदि राजा हुए तो उसमें कोई चूँ तक न करेगा। परन्तु तुम यदि राजा के ऊपर हाथ चलाओगे तो फिर तुम मुझे न मिलोगे।

जयसिंह—मुझ पर इतना स्नेह! मैं तो एक तुच्छ आदमी हूँ। मेरे स्नेह का ख़याल कर तुम चींटी तक की कोई हानि नहीं कर सकते। ऐसी दशा में मेरे ऊपर स्नेह करके यदि तुम पाप में सनो तो तुम्हारे उस स्नेह का उपभोग मैं अधिक दिन तक न कर सकूँगा। उस स्नेह का परिणाम कभी अच्छा न होगा।

रघुपति झट बोल उठा—अच्छा, वह बात फिर होगी। कल नक्षत्र राय के आने पर किसी एक बात का निश्चय हो जायगा।

जयसिंह ने मन ही मन प्रतिज्ञा कर ली—राज-रक्त मैं ही लाऊँगा। देवी के सन्तोषार्थ अथवा गुरुदेव के प्रसन्नतार्थ भाई के हाथ से भाई का वध तो कदापि न होने दूँगा।

सातवाँ परिच्छेद

जयसिंह को सारी रात नींद न आई। गुरु (रघुपति) के साथ जिस बात पर तर्क-वितर्क हुआ था उसकी अब शाखा-शाखाएँ जयसिंह के मन में फैलने लगीं। किसी काम को शुरू करने के लिए समय का अधिक भाग हम लोगों के हाथ में अवश्य है किन्तु उस काम का पूरा होना हम लोगों के वश में नहीं। चिन्ता के सम्बन्ध में भी यही बात घटती है। जयसिंह के मन में बड़े वेग से इस प्रकार एक-एक करके सभी बातें उठने लगीं। वे बातें उनके चिरकाल से जमे हुए विश्वास के मूल में कुठाराघात करने लगीं। जयसिंह बड़े ही दुखी और खिन्न होने लगे; परन्तु उनका दुःख किसी प्रकार दूर न हुआ। जिस काली को जयसिंह इतने दिन से माँ समझते थे उस मातृत्वभाव को गुरुदेव ने क्यों दूर कर दिया? उनको निर्दया क्यों बतलाया? शक्ति की प्रसन्नता ही क्या, और अप्रसन्नता ही क्या? प्रकृति के न कान हैं, न आँखें। वह (शक्ति) तो एक बड़े भारी रथ के सदृश है, जो अपने असंख्य पहियों के नीचे संसार को घसीटकर घर्घर शब्द करता

हुई बराबर चली जा रही है। उसका सहारा पाकर कौन चला जा रहा है, उसके नीचे दबकर कौन पिस गया, उसके ऊपर आरूढ़ होकर कौन उत्सव मना रहा है और उसके नीचे पड़कर कौन चिल्ला रहा है—ये बातें उसे क्या मालूम ? क्या इस प्रकृति-रथ का कोइ हाँकनेवाला नहीं ? संसार के निरपराधी, असहाय और भयभीत प्राणियों का रक्तपान करने को कालरूपिणी निष्ठुर शक्ति की तृष्णा का निवारण करना ही क्या मेरा काम है ? क्यों ? वह तो आप ही अपना काम कर रही है। उसके पास दुर्भिक्ष है, बाढ़ है, भूकम्प है, बुढ़ापा है, महामारी है, अग्निदाह है और निर्दय लोगों के हृदय में हिंसात्मिका बुद्धि है। एतदर्थ मुझ क्षुद्र जीव की ज़रूरत ही उसे क्या है ?

उसके दूसरे दिन का प्रातःकाल बड़ा हो सुहावना हुआ। वर्षा बन्द हो चुकी है। पूर्व दिशा में मेघ नहीं हैं। सूर्य की किरणें मानों जल से धुलकर और भी साफ़ हो गई हैं। वृष्टि के जल और सूर्य्य की किरणों से दसों दिशाएँ चमचमा रही हैं। सूर्य्य की स्वच्छ आनन्दप्रभा आकाश में, निराले मैदान में, वन में और नदी के प्रवाह में प्रफुल्ल सफ़ेद सहस्र-दल कमल की तरह प्रस्फुटित हो उठी है। नीले आसमान में चीलें इधर-उधर चक्कर लगा रही हैं। इन्द्र-धनुष के नीचे क़तार बाँधकर बगले उड़ रहे हैं। गिलहरियाँ एक पेड़ से दूसरे पर दौड़ रही हैं। दो-एक ख़रगोश एक झाड़ी के भीतर से

निकलकर, बड़ी भीरुता के साथ, चकित होकर छिपने के लिए फिर कोई आड़ खोज रहे हैं। बकरी के छोटे-छोटे बच्चे एक दुर्गम पहाड़ पर चढ़कर घास की कोमल पत्तियाँ नोच-नोच कर खा रहे हैं। गाय-बैल आज बड़ी खुशी में मगन होकर मैदान में चर रहे हैं। चरवाहे गा रहे हैं। बग़ल में घड़ा लेकर जाती हुई माँ के आँचल का छोर पकड़े बालक भी आज बाहर निकले हैं। वृद्ध मनुष्य पूजा के लिए फूल तोड़ रहे हैं। नदी में स्नान करने के लिए आज बहुत से लोग एकत्र हुए हैं। वे सब परस्पर बातचीत कर रहे हैं। इधर नदी का भी कलकल शब्द बन्द नहीं है। आषाढ़ महीने में एक दिन अनन्त जीवों को धारण करनेवाली इस आनन्दमयी पृथ्वी की ओर निहारकर जयसिंह ने एक लम्बी साँस ली और मन्दिर में प्रवेश किया।

मूर्त्ति की ओर देखकर और हाथ जोड़कर जयसिंह बोले—क्यों माँ, आज इस प्रकार नाराज़ क्यों? यदि एक दिन अपने जीव का रक्त सामने नहीं आया तो उसी से क्या ऐसी टेढ़ी भौंह! हमारे हृदय में प्रवेश करके अच्छी तरह देखो। क्या भक्ति में कुछ त्रुटि देख पड़ती है? भक्तों का हृदय ग्रहण करके ही क्या तुम्हें सन्तोष नहीं होता जो निरपराधियों का रक्त चाहती हो? अच्छा माँ, सच-सच कहो। धर्म के अवतार गोविन्दमाणिक्य को संसार से हटा करके इस देश में राक्षस का राजत्व स्थापन करना ही क्या तुम्हें अभीष्ट

है ? तुमको राज-रक्त ज़रूर चाहिए ? तुम्हारे श्रीमुख से उत्तर बिना पाये मैं राज-हत्या कभी न होने दूँगा और इस काम में बाधा डालूँगा। हाँ या ना, एक बात बोलो।

एकाएक उस जन-शून्य मन्दिर में शब्द हुआ—"हाँ।"

जयसिंह ने चौंककर पीछे घूमकर देखा, कोई दिखाई नहीं दिया। किन्तु ऐसा जान पड़ा जैसे किसी की छाया काँपती हुई निकल गई हो। आवाज़ सुनकर पहले उन्होंने समझा कि वह उनके गुरु की ही आवाज़ है। फिर उन्होंने मन में समझा कि देवी न मेरे गुरु के कण्ठस्वर के द्वारा ही आज्ञा दी है। सम्भव है, यही बात हो। परन्तु उस वाणी के सुनते ही उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया। फिर जयसिंह ने माथा नवाकर मूर्ति को प्रणाम किया। वे शस्त्र लेकर मन्दिर से बाहर चले गये।

आठवाँ परिच्छेद

गोमती नदी के दक्षिण भाग में एक जगह बड़ा ही ऊँचा टीला है। वर्षा की धारा और छोटे-छोटे सोतों ने इस उच्च भूमि को अनेक गढ़े-खड्डों में विभक्त कर डाला है। वहाँ से कुछ दूर ठीक अर्धचन्द्र के आकार के बड़े-बड़े पेड़ों ने इस भूमिखण्ड को घेर रक्खा है। किन्तु इस टीले के बीच में बड़ा पेड़ एक भी नहीं है। कहीं-कहीं इस टीले पर

केवल साखू के छोटे-छोटे पेड़ हैं जो बढ़ने नहीं पाते; काले होकर झुक गये हैं। पत्थर के टुकड़े बहुतायत से इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। एक-दो हाथ चौड़े सैकड़ों सोते, टेढ़े-मेढ़े रास्ते से घूमते-फिरते, आपस में मिलकर नदी में जा मिले हैं। यह जगह लोगों से बिलकुल खाली है। इस टीले पर ऐसे वृक्ष नहीं हैं जो दृष्टि को रोक सकें। यहाँ से गोमती नदी और उसके दूसरे किनारे के चित्र-विचित्र सुन्दर धानों के खेत इत्यादि बहुत दूर तक देख पड़ते हैं। गोविन्दमाणिक्य प्रतिदिन प्रातःकाल यहाँ टहलने आते थे। साथ में कोई मुसाहब या नौकर भी नहीं आता था। वे कभी-कभी मछुओं को गोमती में मछली पकड़ते दूर से देखते थे। उन लोगों की प्रसन्न मूर्ति को राजा, योगी की तरह, स्थिरभाव से देखते थे। वे आँखें मूँद कर बैठकर सोचते थे कि उन सबके मुँह पर प्रभातकालिक तेज है या उनकी आत्मा की ज्योति चमक रही। कुछ उनकी समझ में न आता था। आज-कल बरसात के सबब से वे हर रोज़ नहीं आ सकते थे। किन्तु जिस दिन आसमान साफ़ रहता था उस दिन आते थे। परन्तु जब आते थे तब छोटे लड़के ताता को अपने साथ अवश्य लाते थे।

ताता को अब ताता नाम से पुकारने को जी नहीं चाहता। क्योंकि एक-मात्र जिसके मुख से ताता सम्बोधन प्रिय लगता था वह अब इस संसार में नहीं है। पाठकों के लिए ताता शब्द का कोई अर्थ नहीं। किन्तु हासी जब प्रातःकाल साखू

के जङ्गल में छल करके, सखुए की आड़ में छिपकर, अपने मधुर स्वर को कुछ तेज़ करके पुकारती थी, "ताता"! इसी तरह उसके जवाब में पेड़ पेड़ पर से जब दाहियल पक्षी पुकार उठते थे और दूर के जङ्गल से "ताता" की प्रतिध्वनि लौट आती थी— तब वही ताता-शब्द अर्थ से परिपूर्ण होकर सारे जङ्गल में व्याप्त हो जाता था। तब वही ताता एक बालिका के छोटे से हृदय के अत्यन्त कोमल स्नेहरूपी घोंसले का परित्याग कर पक्षी की तरह स्वर्ग की ओर उड़ जाता था। तब वही एक स्नेह-संसिक्त मधुर सम्बोधन समस्त पक्षियों के प्रातःकालीन कलरव को लूट लेता था और प्रभातकालिक प्रकृति की आह्लादमयी शोभा के साथ एक छोटी सी बालिका के आनन्दमय स्नेह का एकता कर दिखाता था। अब वह बालिका नहीं है; है केवल वही एक-मात्र बालक। किन्तु ताता नहीं है। संसार के सहस्रशः लोगों के लिए सभी प्रकार से अब वह बालक ही है। "ताता" केवल उस बालिका के लिए ही था।

महाराज गोविन्दमाणिक्य उस लड़के को "ध्रुव" कहकर पुकारते थे। हम भी अब उसे इसी नाम से पुकारेंगे।

महाराज पहले अकेले ही गोमती के किनारे आते थे, अब ध्रुव को अपने साथ लाते हैं। उसके पवित्र और स्वच्छ मुख की शोभा में उन्हें देवलोक का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। मध्याह्न के समय जब राजा साहब राज-काज में लग जाते हैं तब बड़े बड़े बुद्धिमान् वृद्ध मन्त्री उनको घेरकर खड़े हो जाते हैं

और उनको अपनी सलाह देते हैं। सुबह की कैफ़ियत यह कि एक छोटासा लड़का उन्हें संसार-चक्र से बाहर ले आता है। उसके उन बड़े बड़े प्रशान्त नयनों के आगे राग आदि विषयों के सभी कौटिल्य संकुचित हो जाते हैं। लड़के का हाथ पकड़कर मानो महाराज संसार के मध्यवर्ती, दूर तक फैले हुए, एक सीधे बृहत् राजमार्ग पर जा खड़े होते हैं। वहाँ से मानो उन्हें अन्तर्हित सुन्दर नीलाकाशरूपी चँदोवे (शामियाने) के नीचे विपुल ब्रह्माण्ड की विस्तृत सभा देख पड़ती है। वहाँ से मानो भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक आदि सप्त लोकों के सङ्गीत की कुछ कुछ प्रतिध्वनि सुन पड़ती है, और उस सीधी सड़क में मानो सभी पदार्थ स्वच्छ और स्वभावतः सुन्दर जान पड़ते हैं। एक-मात्र आगे ही बढ़ने का उत्साह होता है। तीव्र चिन्ता, विचार, रोग, शोक, सभी दूर हो जाते हैं। महाराज उस प्रभात-समय, उस सन्नाटे के जङ्गल में, नदी के किनारे उस निर्बन्ध आकाश में एक बालक के प्रेम में डूबकर मानो अपार प्रेमसमुद्र का मार्ग देख रहे हैं।

गोविन्दमाणिक्य ध्रुव को गोदी में बिठाकर उसे ध्रुवोपाख्यान सुना रहे हैं। वह उसको कुछ ज्यादा समझता है, सो नहीं, किन्तु राजा का मतलब यह कि ध्रुव के मुँह से अर्द्ध-स्फुटित स्वर में इस ध्रुवोपाख्यान को पुनर्वार सुनें।

कथा सुनते सुनते ध्रुव ने कहा—मैं वन को जाऊँगा।

राजा—वहाँ क्या करने जाओगे?

ध्रुव—हलि (हरि) को देखने।

राजा—हम तो हरि को देखने के लिए ही इस जङ्गल में आये हैं।

ध्रुव—हलि कहाँ हैं?

राजा - इसी जगह।

"बहन कहाँ है?" यह कह कर ध्रुव उठ खड़ा हुआ और पीछे की तरफ़ घूमकर देखने लगा। उसके मन में ऐसा हुआ मानो उसकी बहन पहले की तरह एकाएक पीछे की तरफ़ से उसकी आँखें मूँदने के लिये आ रही है। किसी को आते न देख उसने गर्दन झुकाकर और आँखें उठाकर फिर राजा से पूछा—बहन कहाँ है?

राजा—तुम्हारी बहन को हरि बुला ले गये हैं।

ध्रुव—हलि कहाँ हैं?

राजा—ध्रुव, उनको पुकारो। मैंने जो वह गीत तुमको सिखाया था उसी को गाओ।

ध्रुव झूम-झूमकर गाने लगा।

हलि तुमको ढूलौं बन माहीं।
मैं बालक अछ (स) हाय अकेला कोउ छंग में नाहीं।
छतिमिल घोल (र) गहन बिच घूमौं कतहूँ, न पन्थ लखाहीं॥
कहा कलूँ केहि बिपति छुनाऊँ लखौं न तुअ पल छाहीं।
काल लात्ति कब आय तुलैहैं तेहि डलं मन अकुलाहीं॥
लेहु उबालि ईछ अब तुम बिन औल न कोउ दलछाहीं।

ह्वै हैं कबहुँ कि बिफल, नाथ हित नील न नयन छुखाहीं ॥
जग जाहिल छुधि लेहि दयानिधि गहि भक्तन की बाँहीं ।
छब प्रकाल आछा है ताकी लाखनहाल छदाहीं ॥
घोल आगाध अन्धकालहु में तुअ दलि (द) ग गति दलछाहीं ।
तुम्हले भक्तन को अगम हूँ पन्थ छुगम ह्वै जाहीं ॥
ध्लु (ध्रु) व तुमको चाहत निछि-बाछल तुम ध्लुव पै ललचाहीं ।
जनछीदन चाहत तुमहीं को औल जाउँ केहि पाहीं ॥

'र' की जगह 'ल' और 'स' की जगह 'छ' का उच्चारण करके और कुछ मुह के भीतर ही रखकर अघबोलिये का प्रत्यक्ष उदाहरण होकर ध्रुव झूम-झूमकर अपने अमृतमय स्वर में इस गीत को पढ़ गया। इसे सुनकर राजा का मन आनन्द में मग्न हो गया। उस दिन का भोर और दिनों से दूना प्रिय हो उठा। चारों तरफ़ नदी, वन, वृक्ष और लताएँ हँसने लगीं। गोविन्दमाणिक्य को सूर्य के सुनहरी किरण-रूपी अमृत से सींचे हुए स्वच्छ आकाश में किसी के अनुपम सुन्दर सहास्य मुख की शोभा देख पड़ी। ध्रुव जिस प्रकार उनकी गोद में बैठा है, उसी प्रकार मानो उनको भी किसी ने दोनों बाँहों के बीच अपनी गोद में उठा लिया। उन्होंने अपने को, अपने चारों ओर के रहनेवालों को और सांसारिक सभी जड़-चेतन पदार्थों को किसी की गोद में बैठे देखा। उनके प्रेम और आनन्द ने, सूर्य की किरणों की तरह, दसों दिशाएँ भर दीं। चारों ओर प्रेम और आनन्द ही दिखाई

देने लगे। ऐसे समय हथियार धारण किये जयसिंह गुफा के रास्ते से एकाएक राजा के सामने आकर खड़े हुए। राजा ने दोनों हाथ बढ़ाकर कहा—आओ जयसिंह, आओ।

राजा उस समय लड़के के साथ मिलकर बिलकुल लड़के से हो रहे हैं। अभी उनकी राज-मर्यादा कहाँ ? जयसिंह ने धरती में माथा टेककर राजा को प्रणाम किया। राजा प्रत्यभिवादन कर बोले—जयसिंह, तुम भी तो मेरे प्रणम्य हो। तुम्हारा जन्म राज-कुल में है। तुम क्षत्रिय हो।

जयसिंह—महाराज, मेरी एक प्रार्थना है।

राजा—क्या ? बोलो।

जयसिंह—देवी आपके ऊपर नाराज़ हुई हैं।

राजा—क्यों, मैंने उनकी नाराज़गी का क्या काम किया है ?

जय०—महाराज, आपने बलिदान बन्द करके देवी की पूजा में बाधा डाली है।

राजा—क्यों जयसिंह, इस हिंसा की इतनी तृष्णा क्यों ? आज ऐसे सुन्दर सुहावने प्रातःकाल में हिंसा का यह उत्कट उफान क्यों ? विचारकर देखो, जगन्माता देवी की गोद में संसार के सभी जीव-जन्तु बड़े आराम के साथ बेखटके टहल रहे हैं। इस गोद में भय, शोक और हाहाकार का सञ्चार कर और इसी माता के अङ्क में सन्तान का रक्त बहाकर तुम माता को प्रसन्न करना चाहते हो ? संसार की शान्ति भङ्ग करने के लिए इतनी अभिलाषा किसलिए ? हिंसारूपी विष-

कण्टक-वृक्ष की जड़ में जीवों का लोहू सींचकर यत्न-पूर्वक उसे क्यों बढ़ा रहे हो ? हाय ! हाय ! दया-रूपी कल्प-वृक्ष कहाँ गया ! प्रेमरूपी पारिजात क्या हुआ !

जयसिंह धीरे-धीरे राजा के पैरों के पास आकर बैठ गये।

ध्रुव उनकी तलवार लेकर देखने लगा।

जयसिंह—क्यों महाराज, शास्त्र में तो बलिदान की व्यवस्था है ?

राजा—यथार्थ रीति से शास्त्र की आज्ञा का पालन कौन करता है ? सब लोग अपनी अपनी रुचि के अनुसार शास्त्र का उपपादन करते हैं। जिस समय देवी के सामने सहाय-हीन कातर प्राणियों का बलिदान होता है, जिस समय उस बलि के रक्तमय पङ्क से सारे शरीर को लिप्त कर सब लोग बड़े ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर भयानक उल्लास के साथ ताण्डव-लीला प्रारम्भ करते हैं, उस समय क्या वे देवी की पूजा करते हैं ? नहीं, अपने हृदय में जो हिंसारूपिणी राक्षसी है उसी राक्षसी की पूजा करते हैं। उसी राक्षसी को लोहू पिला-कर उसे पुष्ट करते हैं। हिंसा राक्षसी के आगे जीवों का बलिदान देने की शास्त्र की आज्ञा नहीं है; बल्कि हिंसा की ही बलि देना शास्त्र की आज्ञा है।—अहिंसा परमो धर्मः।

जयसिंह बड़ी देर तक चुप रहे। कल रात से उनके भी मन में इस प्रकार की बहुत बातें उठ रही हैं ! अन्त में उन्होंने कहा—"मैंने साक्षात् देवी के मुँह से सुना है, इसलिए इस

विषय में अब और कोई सन्देह नहीं हो सकता। उसने स्वयं कहा है कि मैं महाराज का रक्त चाहती हूँ।" यह कहकर जयसिंह ने राजा को उस घटना का हाल कह सुनाया जो प्रातःकाल मन्दिर में हुई थी।

राजा हँसकर बोले—यह देवी का कथन नहीं। इसे रघुपति का ही कथन समझो। रघुपति ने ही भीतर छिपकर तुम्हारी बात का उत्तर दिया है।

राजा की इस बात को सुनकर जयसिंह एकदम चौंक पड़े। उनके मन में भी इस प्रकार का सन्देह एक बार धक से हो उठा था, किन्तु बिजली की तरह वह तुरन्त ही विलीन हो गया था। राजा की बात सुनकर उस सन्देह का धक्का फिर कलेजे में लगा। जयसिंह अधीर होकर बोले—"नहीं महाराज, मेरे सन्देह को मत बढ़ाइए। किनारे से ढकेलकर बीच समुद्र में मुझे मत फेंकिए। आपकी बात से तो मेरे चारों तरफ़ और भी अन्धकार बढ़ रहा है। मेरा जो विश्वास था, मेरी जो भक्ति थी, वही बनी रहे। उनके परिवर्तनार्थ मैं इस कुहरे में पड़ना नहीं चाहता। देवी की आज्ञा हो, चाहे गुरु की आज्ञा हो, बात एक ही हुई। मैं उसका अवश्य पालन करूँगा।" यह कहकर जयसिंह वेग से उठ खड़े हुए। उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली। सूर्य्य की किरण में तलवार बिजली की तरह चमकने लगी, जिसे देख ध्रुव ज़ोर से रोने लगा। उसने राजा से लिपटकर, अपने छोटे छोटे हाथों

से प्राण अर्पण कर, यथासम्भव उनको छिपाया। राजा ने जयसिंह की ओर कुछ ध्यान न देकर ध्रुव को ही अपनी छाती से लगा रक्खा।

जयसिंह ने तलवार दूर फेंक दी और ध्रुव की पीठ पर हाथ फेरकर कहा—"कोई डर नहीं, बच्चा कोई डर नहीं। लो मैं यह चला। तुम इनकी उदार छाया में रहो; इनके विशाल हृदय में विराजो। तुमको कोई जुदा न करेगा।" राजा को प्रणाम करके जयसिंह चलने को उद्यत हुए। एकाएक कुछ विचारकर फिर लौटे और बोले—महाराज को सावधान किये देता हूँ। आपके भाई नक्षत्रराय ने आपको इस संसार से उठा देने का निश्चय किया है। आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी की रात को देवी-पूजा होगी। उस दिन आप सावधान रहिएगा।

राजा ने हँसकर कहा–नक्षत्र किसी तरह मेरी हत्या न कर सकेगा। वह मुझ पर प्रेम रखता है।

जयसिंह चले गये।

ध्रुव की ओर देखकर राजा बड़ी श्रद्धा के साथ बोले—आज तुम्हीं ने रक्तपात से धरती को बचाया है। इसी अभिप्राय से तुम्हारी बहन तुमको मेरे पास छोड़ गई है।

अब राजा ने ध्रुव के गालों पर से आँसू की धारा को पोंछ डाला। ध्रुव ने फिर भोलेपन से पूछा—बहन कहाँ है?

इसी समय मेघ ने घिरकर सूर्य को ढँक लिया। नदी के ऊपर काली घटा की छाया पड़ने लगी। वन का दूरवर्ती

प्रान्त मेघ की ही तरह श्यामल हो उठा। पानी बरसने का लक्षण देखकर राजा राजभवन में लौट आये।

नवाँ परिच्छेद

मन्दिर बहुत दूर नहीं है। किन्तु जयसिंह नदी के निर्जन घाट पर घूम-फिरकर धीरे धीरे मन्दिर की तरफ़ चले। उनके मन में बड़ी चिन्ता होने लगी। वे नदी के किनारे एक पेड़ के नीचे बैठ गये और दोनों हाथों से अपने मुँह को ढँक-कर सोचने लगे—एक काम तो मैंने कर डाला, फिर भी सन्देह चित्त से नहीं जाता। आज से मेरे सन्देह को कौन दूर करेगा? क्या अच्छा है और क्या बुरा है, यह आज से मुझे कौन समझावेगा? संसार के सैकड़ों-करोड़ों रास्तों के मुहाने पर खड़ा होकर किससे पूछूँगा कि कौन रास्ता ठीक है? मैं इस अद्भुत मैदान में अन्धे की तरह खड़ा हूँ। आज मेरे सहारे की लाठी टूट गई।

जयसिंह जब वहाँ से उठे तब पानी कुछ कुछ बरसने लगा था। वर्षा में भीगते भीगते वे मन्दिर की तरफ़ चले गये। उन्होंने रास्ते में देखा कि बहुत से लोग झुण्ड बाँधे शोर-गुल करते मन्दिर की तरफ़ से चले आ रहे हैं।

बूढ़ा कहता है—बाप-दादे के वक़्त से तो यही होता आया है। न मालूम, राजा की अक़्ल आज ऐसी क्यों हो गई जो उन बातों को बिलकुल उठा दिया!

एक जवान आदमी ने कहा—अब मन्दिर में जाने की इच्छा नहीं होती। पूजा का अब वह समारोह कहाँ?

किसी ने कहा—यह तो नवाब की सी अमलदारी हो गई। इसका मतलब यही कि बलिदान की निस्बत मुसलमानों के ही मन में द्विधाभाव हो सकता है। किन्तु हिन्दू के मन में भावान्तर होना आश्चर्य है।

औरतें कहने लगीं—इस राज्य का अब कल्याण न होगा।

एक ने कहा—पुजारीजी ने स्वयं कहा है कि देवी ने स्वप्न में उनसे कहा है कि "तीन महीने के अन्दर यह देश महामारी से उजड़ जायगा।"

ललिता ने कहा—इस बात को क्यों नहीं देखती। माधो डेढ़ बरस से रोगी होकर भी बचा चला आता था, किन्तु बलि बन्द होते ही मर गया।

शान्ता बोली—यही क्यों, मेरे जेठ के लड़के को कौन जानता था कि मर जायगा। क्या वह मरने लायक़ था? जैसे ही वैद्यराज की गोली खाई, वैसे ही उसकी आँखें उलट गईं।

उस लड़के के शोक से और देश का अशुभ होने के डर से शान्ता अधीर हो गई।

तीनकौड़ी ने कहा—उस दिन मधुरहाटी के बाज़ार में आग लगी, एक भी घर का छप्पर नहीं बचा।

चिन्तामणि किसान ने अपने एक साथी किसान से कहा—बहुत कहने से क्या, देखते क्यों नहीं। इस साल जैसा सस्ता

धान हुआ है, वैसा और किसी साल नहीं हुआ था। कौन जाने इस साल किसानों के नसीब में क्या बदा है।

बलिदान बन्द होने के बाद और इसके पहले भी जिसकी जो कुछ हानि हुई थी उसका, सबकी सलाह से, एक-मात्र कारण बलिदान बन्द होना ही निर्दिष्ट हुआ। इस देश को छोड़कर अब अन्यत्र जाना ही भला है, यही सबका विचार हुआ। पर इस विचार से कुछ हुआ नहीं। कोई देश-त्याग करके कहीं न गया। जो जहाँ था, वहीं रहा।

जयसिंह का चित्त ठिकाने न था। अतएव इन बातों पर विशेष ध्यान न देकर वे मन्दिर में जाकर उपस्थित हुए। देखा कि रघुपति पूजा समाप्त करके मन्दिर के बाहर बैठा है। जयसिंह ने बड़े लम्बे लम्बे डगों से रघुपति के पास जाकर अधीर स्वर में पूछा—गुरुदेव, देवी की आज्ञा पाने की इच्छा से आज सवेरे जब मैंने देवी से प्रार्थनापूर्वक प्रश्न किया था तब उसका उत्तर आपने क्यों दिया?

रघुपति कुछ टालमटोल करके बोला—देवी तो मेरे ही द्वारा अपने कथन का प्रचार करती है। वह अपने मुँह से तो कुछ बोलती नहीं।

जयसिंह ने कहा—तो आप सामने आकर क्यों नहीं बोले? आपने भीतर छिपकर मुझे क्यों ठगा?

रघुपति रुष्ट होकर बोला—चुप रहो। मैं क्या सोच-कर कौन सा काम करता हूँ, उसे तुम क्या समझोगे?

जो मुँह में आवे उसे ही वाचाल की तरह मत बका करो। मैं जो कुछ आज्ञा दूँ उसी का तुम पालन करो और कोई बात मत पूछो।

जयसिंह चुप हो रहे। उनका सन्देह और भी बढ़ गया। थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा—आज सवेरे मैंने देवी से कहा कि यदि वह अपने मुँह से कुछ आज्ञा न देगी तो राजहत्या की घटना मैं कभी न होने दूँगा; उस काम में बाधा डालूँगा। जब मुझे निश्चित रूप से मालूम हो गया कि देवी कुछ आदेश नहीं करती तब मैंने महाराज के निकट नक्षत्रराय की प्रतिज्ञा ज़ाहिर करके उन्हें सावधान कर दिया।

रघुपति कुछ देर तक चुप बैठा रहा। फिर अपने बेहद गुस्से को दबाकर उच्च स्वर में बोला—मन्दिर के भीतर चलो।

दोनों मन्दिर के भीतर चले गये।

रघुपति ने कहा—भगवती के चरण छूकर शपथ करो और कहो कि आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को राज-रक्त लाकर इन चरणों में उपहार दूँगा।

जयसिंह सिर झुका कर कुछ देर तक चुप रहे। इसके बाद एक बार गुरु के मुँह की ओर और एक बार मूर्त्ति की ओर सिर उठाकर देखा। फिर देवी की मूर्त्ति का स्पर्श करके धीरे धीरे कहा—आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को राज-रक्त लाकर इन चरणों में उपहार दूँगा।

दसवाँ परिच्छेद

राज-भवन में आकर महाराज ने राज्य के मामूली कामों को समाप्त करके छुट्टी पाई। मेघ घिर आने से फिर अँधेरा छा गया। महाराज का मन बहुत ही उदास है। और दिन नक्षत्रराय दरबार में उपस्थित रहते थे, किन्तु आज हाज़िर न थे। राजा ने उनको बुला भेजा। उन्होंने आने में असमर्थता दिखलाकर कहला भेजा कि हमारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है। राजा स्वयं नक्षत्रराय के पास गये। उन्होंने सिर उठाकर राजा की ओर देखा तक नहीं। एक लिखा हुआ काग़ज़ हाथ में लेकर ऐसे बन गये, मानो किसी गहरी चिन्ता में मग्न हैं।

राजा ने पूछा—नक्षत्र, क्या तुम्हारी तबीयत कुछ ख़राब है?

नक्षत्रराय काग़ज़ को बार बार उलट-पलटकर हाथ की उँगली की ओर देखते हुए बोले—ख़राब! नहीं ख़राब तो नहीं है। यही एक ज़रूरी काम था। हाँ, हाँ, ख़राब भी हो गई थी, कुछ ख़राब की ही तरह, सच है।

नक्षत्रराय अत्यन्त अधीर हो गये। गोविन्दमाणिक्य बड़ी उदासी से नक्षत्र के मुँह की ओर देखने और मन ही मन कहने लगे—हाय! हाय! स्नेह के घर में हिंसा ने प्रवेश किया है। वह साँप की तरह छिपकर रहना चाहती है, पर मुँह दिख-

लाना नहीं चाहती। हम लोगों के जङ्गल में क्या जीव-हिंसक जन्तु काफ़ी नहीं हैं। तो क्या अब मनुष्य भी मनुष्य को देखकर डरेगा? क्या भाई भी भाई के पास निर्भय होकर न रहने पावेगा? यही मेरे भाई हैं। इन्हीं के साथ नित्य एक घर में रहता हूँ; एक आसन पर बैठता हूँ; हँसी-ख़ुशी से बातें करता हूँ; किन्तु ये मेरे पास रहकर मेरे ही निमित्त मन के भीतर छुरी को सान पर चढ़ा रहे हैं।

गोविन्दमाणिक्य के निकट उस समय यह संसार हिंसक जन्तुओं से भरे हुए जङ्गल के सदृश ज्ञात होने लगा। घने अन्धकार के बीच चारों तरफ़ केवल दाँत और तीक्ष्ण नखों की शोभा दिखाई देने लगी। ज़ोर से साँस लेकर महाराज ने मन में सोचा कि मैं इस प्रेम-भाव-विहीन हानि-कारक राज्य में बचकर अपने जाति-भाइयों के मन में केवल हिंसा, लोभ और शत्रुता की आग भड़का रहा हूँ। मेरे सिंहासन के चारों ओर मेरे प्राण से भी अधिक प्रिय आत्मीयगण मेरी ओर देखकर मन ही मन मुँह टेढ़ा करते हैं, दाँत पीसते हैं और ज़ंजीर में बँधे हुए भयङ्कर कुत्तों की तरह चारों तरफ़ से मेरे ऊपर टूट पड़ने का मौक़ा ढूँढ़ रहे हैं। इन लोगों के तीव्र नखाघात से छिन्न-भिन्न होने की अपेक्षा और इन लोगों की रक्त-पिपासा रोकने की अपेक्षा यहाँ से अन्यत्र चला जाना ही बेहतर है। भोर के समय आकाश में गोविन्दमाणिक्य ने जो प्रेम-प्रसन्न मुँह की शोभा देखी थी वह इस समय कहाँ छिप गई?

महाराज उठ खड़े हुए और गम्भीर-भाव से बोले—नक्षत्र, आज तीसरे पहर हम-तुम दोनों, गोमती के किनारे, निर्जन वन में घूमने चलेंगे।

इस गम्भीर भाव से भरी हुई राजा की आज्ञा के विरुद्ध नक्षत्र के मुँह से कोई बात नहीं निकली। किन्तु अनेक प्रकार के सन्देह और शङ्काओं से उनका दिल घबरा उठा। उनके मन में यों तरङ्गे उठने लगीं—महाराज इतनी देर तक स्थिर भाव से मेरे ही मन की तरफ़ दृष्टि गड़ाये बैठे थे। मेरे दिल में जो विचार, अँधेरे गढ़े के भीतर कीड़ों की तरह, खल-बला रहे थे वे मानो प्रकाश देख एकाएक चञ्चल होकर उस जगह बाहर निकल पड़े। डरते-डरते नक्षत्रराय ने राजा के मुँह की ओर एक बार देखा। उनके मुँह पर गहरी उदासी के साथ शान्ति का भाव छाया हुआ था; किन्तु उसमें क्रोध का लेश तक नहीं। केवल मनुष्य के हृदय की कठोरता और क्रूरता देखकर उनके मन में अगाध शोक व्याप रहा था।

वह समय आ पहुँचा। अभी तक आसमान में बादल छा रहे हैं। नक्षत्रराय को साथ लेकर महाराज पैदल ही जङ्गल की तरफ़ चले। अभी शाम होने में कुछ देरी है किन्तु मेघों के अन्धकार से साँझ हो जाने का भ्रम हो रहा है। कौए जङ्गल के बीच इधर-उधर से आकर बेहद काँव-काँव कर रहे हैं। दो-एक चील्हें अब भी आसमान में चक्कर लगा रही हैं। दोनों भाइयों ने जब निविड़ वन में प्रवेश किया तब

नक्षत्रराय का शरीर थरथराने लगा। बड़े बड़े पुराने पेड़ जटिल होकर खड़े हैं। वे कुछ बोलते नहीं, पर स्थिर-भाव से चींटी के चलने का शब्द भी सुन लेते हैं। वे केवल अपनी छाया की तरफ़ और अपने नीचे अन्धकार की तरफ़ टकटकी लगाये देख रहे हैं। इस जटिल रहस्यमय जङ्गल के भीतर नक्षत्रराय आगे चलना चाहते हैं, पर पाँव नहीं उठता। चारों तरफ़ अगाध शान्ति के भाव का भ्रूभङ्ग देख उनका दिल धड़कने लगा। नक्षत्रराय को बड़ा ही सन्देह और डर हुआ। भयङ्कर अदृष्ट की तरह राजा चुपचाप इस शाम के वक्त इस पृथ्वी के बीच से उन्हें कहाँ लिये जा रहे हैं, इसका कुछ भी पता उन्हें न लगा। मन में समझा कि वे राजा के पास गिरफ़्तार हो गये। और सदा के लिए शान्ति देने को राजा उन्हें इस वन में ले आये हैं। नक्षत्रराय अब एकदम भाग सकते तो बच जाते, परन्तु उन्हें ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई उनके पाँव बाँधकर खींचे लिये जा रहा हो। अब उनकी रक्षा का और कोई उपाय नहीं।

जङ्गल में बहुत सी जगह ख़ाली पड़ी है। उसमें एक प्राकृतिक झील की तरह है, जो बरसात में पानी से भर जाती है। उसी झील के अन्दर सूखी ज़मीन पर घूम-फिरकर राजा ने एकाएक खड़े होकर कहा—ठहरो।

नक्षत्रराय चौंककर खड़े हो गये। उनको ऐसा लगा कि राजा की यह आज्ञा सुनकर मानो उस समय काल की गति रुक

गई। उसी समय मानो जङ्गल के वृक्ष झुककर खड़े हो गये। नीचे पृथ्वी और ऊपर आकाश मानो साँस रोककर स्थिर-भाव से देखने लगे। कौओं का कोलाहल बन्द हो गया। वनमें बिलकुल सन्नाटा छा गया। एक भी शब्द कहीं न सुनाई दिया। केवल वही "ठहरो" शब्द मानों बिजली की गति से पेड़ पेड़ पर, डाल डाल पर, सर्वत्र व्याप्त हो गया। जङ्गल के एक-एक कर सभी पत्ते मानो उसी शब्द का धक्का खाकर खड़खड़ाने लगे। नक्षत्रराय भी दरख़्त की तरह स्थिर-भाव से खड़े हो गये।

अब नक्षत्रराय के मुँह की तरफ़ अपनी मर्मान्तिक विषाद-युक्त दृष्टि स्थिर करके राजा निश्चल भाव से बोले—नक्षत्र, तुम मुझको मारना चाहते हो?

वज्राहत व्यक्ति की तरह नक्षत्र खड़े रहे। जवाब तक देने का उनको होश न रहा।

राजा ने कहा—भाई, मुझे क्यों मारोगे? राज्य के ही लोभ से न? क्या तुम सोचते हो कि राज्य केवल सोने के सिंहासन, हीरे के मुकुट और राजछत्र में ही रक्खा है? इस मुकुट, इस राजछत्र और इस राज-दण्ड का बोझ कितना है, जानते हो? लाखों मनुष्यों की चिन्ता इसी हीरे के मुकुट से ढँकी हुई है। अगर राज्य लेना चाहते हो तो हज़ारों मनुष्यों के दुख को अपना दुख समझो, हज़ारों की विपत्ति को अपनी विपत्ति जानकर स्वीकार करो, हज़ारों लोगों की दरिद्रता को अपनी दरिद्रता मानकर उसे माथे चढ़ाओ। ऐसा

जो कर सके वही यथार्थ में राजा है। वह झोपड़ी में रहे चाहे महल में, जो व्यक्ति सब लोगों को अपना करके जानता है, उसी के वे सभी लोग हैं। उसके ऐश्वर्य्य, उसकी प्रतिष्ठा और उसके सुख को असंख्य सेना लाकर भी कोई छीन नहीं सकता। पृथ्वी के दुःख का जो नाश करे वही पृथ्वी का राजा है। किन्तु पृथ्वी की सम्पत्ति और लोहू को जो चूसता है वह तो डाकू है—हज़ारों अभागों के आँसुओं की धारा उसके माथे पर दिन-रात बरसा करती है। कोई इतना बड़ा राजछत्र नहीं जो उस अभिशाप की तीक्ष्ण धारा से उसकी रक्षा कर सके। उसके अधिकाधिक राज-भोग के भीतर सैकड़ों भुखमरों की क्षुधा जा-जाकर छिपी है। वह असहाय लोगों की दरिद्रता को गलाकर उसी के सोने का भूषण बनाकर पहनता है। उसके धरती तक फैले हुए राज-वस्त्र के भीतर जाड़े से व्यथित सैकड़ों लोगों के मैले चिथड़े घुसे हैं। भाई, राजा को मार डालने से ही किसी को राज्य नहीं मिलता। पृथ्वी को वश में करके राजा होना अच्छा लगता है।

गोविन्दमाणिक्य इतना कहकर चुप हो गये। नक्षत्रराय सिर झुकाकर चुपचाप खड़े रहे।

महाराज ने म्यान से तलवार निकाली और नक्षत्रराय के आगे रखकर कहा—भाई, इस जगह कोई आदमी नहीं, कोई साक्षी नहीं। यदि भाई के कलेजे में भाई छुरी भोंकना चाहे तो उसके लिए यही उपयुक्त जगह है और यही ठीक समय

है। इस जगह कोई तुम्हारी निन्दा न करेगा। तुम्हारी और मेरी नसों में एक ही .खून बह रहा है। एक ही माता-पिता, एक ही दादे-परदादे का लोहू मेरे और तुम्हारे शरीर में सञ्चालित हो रहा है। तुम उसी लोहू को बरबाद करना चाहते हो। किन्तु ऐसा काम मनुष्यों के रहने की जगह में मत करो; क्योंकि उस जगह इस लोहू का छींटा पड़ेगा तो गुप्त रीति से भ्रातृ-भाव का पवित्र बन्धन ढीला पड़ जायगा। कौन जाने पाप का अन्त कहाँ जाकर होता है। पाप का एक भी बीज किसी जगह पड़ जाय तो उसके छिपाने की हज़ार चेष्टा करने पर भी देखते देखते वहाँ हज़ारों पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्यों का यह अत्यन्त सुन्दर समाज धीरे धीरे किस तरह जङ्गल में मिल जाता है, उसे कोई नहीं जान सकता। अतएव शहर में, देहात में, जहाँ निश्चल और निःशङ्क भाव से भाई भाई को प्यार करते हों, ऐसे भाइयों के प्रेमावास में तुम्हें भाई का .खून न करना पड़े, इसी लिए आज तुमको मैं इस जङ्गल में बुला लाया हूँ। अब राजा ने नक्षत्रराय के हाथ में तलवार उठाकर दे दी; किन्तु उसके हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ी।

नक्षत्रराय दोनों हाथों से अपना मुँह छिपाकर रोने और रुद्धकण्ठ से कहने लगे—भाई साहब, मैं अपराधी नहीं हूँ। मेरे मन में इस तरह की भावना कभी नहीं उत्पन्न हुई।

राजा उनको गले लगाकर बोले—सो मैं जानता हूँ। तुम

क्या कभी मेरा वध कर सकते हो! मैं जानता हूँ, तुमको कुछ लोगों ने बुरी सलाह दी है। इसमें तुम्हारा दोष नहीं।

नक्षत्रराय—और कोई नहीं, केवल रघुपति मुझको यह उपदेश देता है।

राजा—तो उससे दूर रहो।

नक्षत्र—आप बता दीजिए, मैं कहाँ जाऊँ। मैं अब यहाँ रहना नहीं चाहता। मैं इस जगह से ही भागना चाहता हूँ।

राजा—तुम बराबर मेरे ही पास रहो, और कहीं मत जाओ। रघुपति तुम्हारा क्या करेगा?

नक्षत्रराय ने राजा का हाथ ख़ूब ज़ोर से पकड़ लिया, मानो उन्हें रघुपति खींचकर ले जायगा, इसी का डर हो रहा है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

राजा का हाथ पकड़े जब नक्षत्रराय जङ्गल से घर लौटे आ रहे थे तब भी आकाश से कुछ कुछ प्रकाश आ रहा था, किन्तु जङ्गल के अधोभाग में ऐसा घना अँधेरा हो गया, मानो अन्धकार की बाढ़ आ गई हो। अब केवल पेड़ों के ऊपर का हिस्सा नज़र आता है। कुछ देर में वह भी छिप जायगा। तब अन्धकार पूर्ण रूप से व्याप्त होकर धरती और अकाश को एक कर देगा।

राजा राज-भवन के रास्ते न जाकर मन्दिर की ओर गये। मन्दिर की सन्ध्या-आरती करके रघुपति और जयसिंह घर में एक चिराग़ जलाये बैठे हैं। दोनों ही गम्भीर भाव से अपने अपने मन की बातें सोच रहे हैं। चिराग़ की धुँधली रोशनी में सिर्फ़ उन दोनों के मुँह की परछाहीं दीख रही है। नक्षत्र-राय रघुपति को देखकर उसके सामने अपना मुँह नहीं कर सके। राजा की परछाहीं में अपने को छिपाकर वे धरती की ओर देखने लगे। राजा ने उनको अपने पास खींचकर मज़बूती के साथ उनका हाथ पकड़कर खड़ा किया और स्थिर दृष्टि से एक बार रघुपति के मुँह की ओर देखा। रघुपति ने नक्षत्रराय को तीव्र दृष्टि से देखा। इसके बाद राजा ने रघुपति को प्रणाम किया। नक्षत्रराय ने भी राजा का अनु-सरण किया। प्रणाम स्वीकार करके रघुपति गम्भीर स्वर में बोला—जय हो महाराज! राज्य में कुशल तो है?

राजा कुछ ठहरकर बोले—आप अशीर्वाद दीजिए कि राज्य का कोई अशुभ न हो। इस राज्य में जगदम्बा की सन्तान आपस में मेल-मिलाप और प्रेम-भाव से रहे। इस राज्य में भाई के पास से कोई भाई को बहकाकर न ले जांय। जहाँ प्रेम है वहाँ कोई हिंसा की नींव न डाले। मैं राज्य के अशुभ का भय मानकर ही यहाँ आया हूँ। पाप-सङ्कल्प के संघर्षण से दावाग्नि जल उठती है। आप उसको शान्त कीजिए। प्रेमरूपी जल की वर्षा कीजिए। पृथ्वी को ठंडी कीजिए।

रघुपति—देवता की क्रोधाग्नि भड़क उठने पर कौन उसे शान्त कर सकता है ? एक अपराधी के कारण हज़ारों बेक़सूर आदमी उस आग में जलकर भस्म हो जाते हैं।

राजा—इसी का तो अधिक डर है। इसी से तो मैं काँप रहा हूँ। इस बात को समझकर भी कोई क्यों नहीं समझता ? आप क्या नहीं जानते कि इस राज्य में देवता का नाम लेकर देवता के नियम का भङ्ग किया जा रहा है। इसी से अमङ्गल की आशङ्का करके मैं आज शाम को यहाँ आया हूँ। इस जगह पाप का पेड़ लगा कर मेरे इस धन-धान्ययुक्त सुख के राज्य में आप देवता के कोपरूपी वज्र को बुला करके न ले आवें। आप से यही बात कहनी थी और ख़ास कर यही कहने के लिए मैं आज यहाँ आया हूँ। अब उन्होंने रघुपति के चेहरे पर मर्मभेदी दृष्टि डाली। राजा के मुँह से निकली हुई वह बुलन्द आवाज़, घिरी हुई चक्करदार हवा की भाँति, उस घर में गूँजने लगी। रघुपति से कुछ उत्तर देते न बना। वह जनेऊ हाथ में लेकर काँपने लगा। राजा उसे प्रणाम करके नक्षत्र राय का हाथ पकड़कर बाहर आये। उस घर में रह गया केवल एक चिराग़, रघुपति और रघुपति की एक लम्बी छाया।

इस समय आकाश में प्रकाश का कहीं नाम नहीं। मेघों ने तारागण को छिपा रक्खा है। उस भयङ्कर अंधकार में, पुरवा की लहर में, कहीं से आती हुई कदम्ब-फूलों की सुगन्धि

पाई जाती है और जंगल के वृक्षों का मर्मर शब्द सुनाई देता है। चिन्ता में डूबे हुए राजा परिचित सड़क से बेधड़क चले जा रहे हैं। उन्होंने एकाएक सुना—किसी ने पीछे से "महा-राज" कह कर पुकारा है।

राजा ने पीछे की ओर घूम कर पूछा—तुम कौन हो?

परिचित कण्ठ ने कहा—मैं आपका अधम दास जयसिंह हूँ। महाराज, आप मेरे गुरू और मालिक हैं। आपके सिवा मेरे और कोई नहीं। जैसे आप अपने छोटे भाई को हाथ पकड़े हुए इस अँधेरे में लिये जा रहे हैं, वैसे ही मेरा भी हाथ पकड़ लीजिए; मुझको अपने साथ लेते चलिए। मैं घोर अन्धकार में पड़ा हूँ। मैं कुछ भी नहीं जानता कि क्या करने से अच्छा होगा और क्या करने से बुरा होगा। मैं कभी बाईं तरफ़ जाता हूँ और कभी दाहनी तरफ़। मुझे पार करनेवाला कोई नहीं।

उस अँधेरे में जयसिंह की आँखों से आँसू गिरने लगे, पर किसी ने देखा नहीं। केवल उद्वेग से भरा हुआ जयसिंह का करुणोत्पादक स्वर काँपते काँपते राजा के कानों में प्रवेश करने लगा। जैसे हवा का धक्का खाकर समुद्र चञ्चल होकर काँपने लगता है वैसे ही वह गम्भीर घोर अन्धकार जयसिंह के आर्त—स्वर का धक्का खाकर काँपने लगा। जयसिंह का हाथ पकड़कर राजा बोले—चलो, मेरे साथ राज-भवन को चलो।

———

बारहवाँ परिच्छेद

उसके दूसरे दिन जब जयसिंह मन्दिर में लौट आये तब पूजा का समय बीत गया था। रघुपति उदास मुँह किये अकेला बैठा है। इसके पहले इस प्रकार पूजा में कभी नियमभङ्ग नहीं हुआ था।

गुरु के पास न जाकर जयसिंह सीधे अपने बाग़ में गये। वहाँ पर वे झुरमुट के भीतर जा बैठे। उनके चारों तरफ़ पेड़-पौधे हिलने-डुलने और छाया को नचाने लगे। उनके चारों तरफ़ फूलों से गुथे हुए पत्तों के गुच्छे थे, हरे हरे झालरदार पत्तों के ऊपर पत्तों की झालरें थीं, छाया-परिपूर्ण सुन्दर कोमल स्नेह का आच्छादन, सुमधुर आकर्षण और प्रकृति का प्रीति-पूर्वक सम्मिलन था! इस जगह ये सब उनकी अपेक्षा करते हैं, पर कुछ पूछते नहीं, विचार में व्याघात नहीं करते; देखने पर देखते हैं और बोलने पर बोलते हैं। इस शान्तिमय सेवा में, प्रकृति के इस भीतरी महल में बैठकर जयसिंह सोचने लगे। राजा ने जो उपदेश उनको दिये थे उनका वे मन ही मन अनुशीलन करने लगे।

ऐसे समय रघुपति ने धीरे धीरे आकर उनकी पीठ पर हाथ रक्खा। जयसिंह चौंक उठे। रघुपति उनके पास बैठ गया और उनके मुँह की ओर देखकर स्वर को कँपाता

हुआ बोला—मैं तुम्हारा भाव ऐसा क्यों देख रहा हूँ? मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम धीरे धीरे मेरे पास से हटे जा रहे हो?

जयसिंह ने कुछ कहना चाहा, परन्तु रघुपति बीच में ही रोककर फिर कहने लगा—क्या तुमने घड़ी भर के लिए भी अपने ऊपर मेरे प्रेम का कभी अभाव देखा है? जयसिंह, मैंने तुम्हारा क्या कोई अपराध किया है? यदि किया भी हो तो मैं तुम्हारा गुरु हूँ, मैं तुम्हारे पिता के तुल्य हूँ। मैं तुमसे क्षमा की भिक्षा चाहता हूँ। मुझे क्षमा-प्रदान करो।

जयसिंह वज्राहत की तरह मर्माहत होकर काँप उठे और गुरु के पाँव पकड़कर रोने लगे। वे बोले—मैं कुछ नहीं जानता, कुछ नहीं समझता; मुझे यह भी मालूम नहीं कि मैं कहाँ जा रहा हूँ।

जयसिंह का हाथ पकड़कर रघुपति बोला—वत्स, मैंने तुम्हारे बचपन से ही तुम्हें माता-पिता की तरह स्नेह करके शास्त्र की शिक्षा दी है। तुम्हारे ऊपर विश्वास रखकर तुमको अपने समस्त विचारों में संयुक्त किया है। आज तुमको मेरे पास से कौन खींचे लिये जा रहा है? इतने दिनों के स्नेह के ममत्व-बन्धन को कौन तोड़ रहा है? तुम्हारे ऊपर जो मेरा देवता का दिया अधिकार है उस पवित्र अधिकार पर किसने हस्तक्षेप किया है? बताओ प्यारे, उस महापातकी का नाम बताओ।

जयसिंह ने कहा—प्रभो, आपके पास से मुझे कोई जुदा नहीं करता। आपने ही मुझको जुदा कर दिया है। मैं घर के भीतर पड़ा था। आप हठात् मुझको घर से खींचकर रास्ते पर ले आये हैं। आपने कहा, किसका कौन बाप है, किसकी कौन माँ और किसका कौन भाई है। आपने ही कहा है—संसार में किसी से कोई सम्बन्ध नहीं। स्नेह प्रेम का पवित्र अधिकार नहीं। जिसको मैं माँ करके मानता था उसको आपने शक्ति बतलाया है। जिस जगह हिंसा की जाती है, जिस जगह रक्तपात होता है, जिस जगह भाई भाई में कलह होता है, जिस जगह दो आदमी लड़ते हैं उसी जगह यह प्यासी प्रकृति लोहू की लालसा से अपना खप्पर लेकर खड़ी होती है। यह क्या आपने माता की गोद से मुझे अलग कर राक्षसी के राज्य में निष्कासित नहीं कर दिया है?

रघुपति बड़ी देर तक स्थिर-भाव से बैठा रहा। आखिर लम्बी साँस लेकर बोला—"तो तुम स्वाधीन हुए, बन्धन से विमुक्त हुए, तुम्हारे ऊपर से मैंने अपने सम्पूर्ण अधिकारों को हटा लिया। इसी से यदि तुम सुखी रह सको तो यही सही"—यह कहकर वह उठने लगा।

जयसिंह उसका पाँव पकड़कर बोले—नहीं, नहीं, प्रभो! आप मुझे त्याग देंगे तो भी मैं आपका त्याग नहीं कर सकूँगा। मैं आपके चरणतल में ही रहूँगा। आप जो इच्छा करेंगे वही होगा। आपके बताये रास्ते के सिवा मेरे लिए दूसरा मार्ग ही नहीं।

जयसिंह को रघुपति ने गले लगा लिया। उसके आँसू बह-बहकर जयसिंह के कन्धों पर गिरने लगे।

तेरहवाँ परिच्छेद

मन्दिर में बहुत लोग जमा हुए हैं। ख़ूब शोर-ग़ुल हो रहा है। रघुपति ने रूखे स्वर से कहा—तुम लोग क्या करने आये हो?

वे लाग भिन्न-भिन्न स्वर में बोले—हम लोग भुवनेश्वरी देवी के दर्शन करने आये हैं।

रघुपति ने कहा—देवी हैं कहाँ? वे तो इस राज्य से चली गईं। तुम लोग देवी को कहाँ रख सके! वे चली गईं।

बड़ा बखेड़ा हुआ। चारों तरफ़ से तरह तरह की बातें सुनाई देने लगीं।—पुजारीजी, आप यह क्या कह रहे हैं!

"हम लोगों ने कौन सा अपराध किया है?"

"माँ अब किसी प्रकार प्रसन्न न होंगी क्या?"

"मेरा भतीजा बीमार था। मैं एक दिन भी पूजा चढ़ाने नहीं आया।" (उसको पूरा विश्वास हुआ कि मेरा अपमान सहन न करके देवी इस देश में नहीं रहना चाहती।)

"मैंने मन में सङ्कल्प किया था कि भगवती को दो बकरों का बलिदान दूँगा। अधिक दूर होने के कारण नहीं आ सका। दो बकरों की बलि देने में देरी होने से राज्य में ऐसी

अशुभ घटना हो गई।" एक आदमी अपने मन में यही समझकर अधीर हो रहा था।

गोवर्धन ने जो मन्नत की थी वह उसने पूरी नहीं की। देवी ने भी तो इसी से उसको इतना कष्ट दिया है। उसके पेट में पिलही बढ़कर तोंबी सी लटक गई है। छः महीने से खाट पर पड़ा है। गोवर्धन अपनी पिलही बढ़ाकर चूल्हे में जाय, पर भगवती देश में रहें।—उस व्यक्ति ने मन ही मन इसी तरह प्रार्थना की। सब लोग अभागे गोवर्धन की पिलही के विशेष रूप से बढ़ने की कामना करने लगे।

भीड़ के बीच में एक लम्बे डील-डौल का आदमी था। उसने सबको धमकाकर ठहराया और हाथ जोड़कर रघुपति से पूछा—पुजारीजी, देवी क्यों चली गईं? हम लोगों से क्या अपराध हुआ है?

रघुपति ने कहा—तुम लोग देवी को एक बूँद लोहू तक नहीं दे सकते। यही तुम लोगों की भक्ति है!

सब लोग चुप हो रहे। आख़िर फिर बात चलने लगी। कोई कोई धीमे स्वर में कहने लगे—राजा की मनाही है। हम लोग क्या करें?

जयसिंह पत्थर की मूर्ति की तरह स्थिर-भाव से बैठे थे। "देवी की मनाही" यह बात बिजली की गति से उनकी जीभ के अग्र भाग तक आ चुकी थी, पर उन्होंने अपने को रोक लिया। वे कुछ भी न बोले।

रघुपति तीखे स्वर से बोल उठा—राजा कौन होता है! देवी का सिंहासन क्या राजा के सिंहासन के नीचे रहेगा ?; तब तुम लोग इस मातृहीन देश में राजा को ही लेकर रहो। देखूँगा, तुम लोगों की रक्षा कौन करता है !

उस जन-समाज में गनगनाहट की आवाज़ गूँजने लगी। सभी चौकन्ने होकर बातें करने लगे।

रघुपति खड़ा होकर बोला—राजा को ही तुम लोगों ने बड़ा माना और माता को अपमान करके अपने देश से विदा कर दिया। तुम लोग सुख से रहना नहीं पसन्द करते। तीन वर्ष के बाद देखना इतने बड़े देश में तुम लोगों के वास-स्थल का चिह्न न रहेगा। तुम लोगों का वंश नष्ट हो जायगा।

जन-मण्डली में समुद्र की तरङ्ग की तरह गनगनाने की आवाज़ धीरे-धीरे स्पष्ट हो उठी। लोगों का समाज क्रमशः बढ़ने लगा। उस दीर्घकाय मनुष्य ने हाथ जोड़कर फ़िर रघुपति से कहा—सन्तान से यदि कोई अपराध हो जाता है तो माता क्षमा करके उसे समझाती है, किन्तु सन्तान को एक-दम छोड़कर माँ कहीं चली नहीं जा सकती। प्रभो, एक बार बतला दीजिए, क्या करने से माँ लौट आवेंगी ?

रघुपति ने कहा—जब तुम लोगों का यह राजा (गोविन्द-माणिक्य) इस राज्य से बहिर्भूत होगा तभी माँ इस देश में फिर पैर रक्खेगी।

यह बात सुनकर जन-मण्डली की भनभनाहट एकाएक

रुक गई। चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा छा गया। आख़िर लोग आपस में एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। किसी की हिम्मत न पड़ी कि कुछ कह सके।

रघुपति ने मेघ की तरह गम्भीर स्वर से कहा—तो तुम लोग दर्शन करोगे! आओ, मेरे साथ चले आओ। बहुत दूर से तरह तरह की आशा करके तुम लोग भगवती के दर्शन करने आये हो। चलो एक बार मन्दिर में चलो।

सब लोग डरते डरते मन्दिर के आँगन में आकर एकत्र हुए। मन्दिर का द्वार बन्द था। रघुपति ने आहिस्ता आहिस्ता दरवाज़ा खोल दिया।

कुछ देर तक तो किसी के मुँह से बात भी न निकली। सब लोग अवाक् हो रहे। दर्शकों ने प्रतिमा की पीठ अपनी ओर देखी। माँ विमुख हो गई है। एकाएक जन-मण्डली में रोने-चिल्लाने का शोर होने लगा। "माँ, एक बार घूमकर खड़ी हो; हम लोगों ने क्या अपराध किया है!" चारों तरफ़ से "माँ कहाँ गई, माँ कहाँ गई" का कोलाहल मच गया। प्रतिमा पत्थर की ठहरी, वह फिरे कैसे! कितने ही बेहोश होकर गिर पड़े। लड़के-बच्चे कुछ न समझकर रोने लगे। कितने ही बुड्ढे, मातृहीन छोटे बच्चों की तरह, बिलख-बिलख कर पुकारने लगे—"अरी मैया, अरी मैया! हमें छोड़कर कहाँ चली गई?" स्त्रियों के घूंघट खुल गये। आँचल के कपड़े खिसक पड़े। सब विकल हो-होकर छाती पीटने लगीं

युवक लोग अपने उच्च स्वर को कम्पित करके कहने लगे—माँ, तुमको हम लोग लौटा लावेंगे, तुम्हें न छोड़ेंगे।

एक पागल आदमी गाने लगा—

माता तो हम लोगों की यह, है पत्थर की मूरत।
नहीं इसी से उसने देखी, सन्तानों की सूरत॥

मन्दिर के द्वार पर खड़े होकर मानो सारा राज्य माँ, माँ कहकर विलाप करने लगा, किन्तु देवी की मूर्त्ति ज्यों की त्यों विमुख बनी रही। दो-पहर की धूप बड़ी कड़ी हो उठी। निराहार जन-मण्डली की क्रन्दन-ध्वनि नहीं रुकी।

तब जयसिंह ने थरथराते हुए पैरों से रघुपति के पास आकर कहा —प्रभो, क्या मैं एक बात भी न कहने पाऊँगा ?

रघुपति ने उँगली उठाकर कहा-नहीं, एक बात भी नहीं।

जयसिंह ने कहा—क्या इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं हो सकता ?

रघुपति ने ज़ोर से कहा—नहीं।

जयसिंह ज़ोर से मुट्ठी बाँधकर बोले—क्या सभी विश्वास करेंगे ?

रघुपति ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मानो जयसिंह को दग्ध करते हुए कहा—हाँ।

जयसिंह अपनी छाती पर हाथ रखकर बोले—"मेरा कलेजा फटा जा रहा है।" इतना कहकर वे उस भीड़ में से निकलकर बाहर चले गये।

———

चौदहवाँ परिच्छेद

आज आषाढ़ के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी है। आज ही रात को चौदह देवताओं की पूजा होगी। आज सवेरे ताल बन की आड़ में जब सूर्य्य उदय हो रहे थे तब पूर्व दिशा में मेघ न था। सूर्य्य का सुनहरी किरणों से अवगाहित आनन्दमय उपवन में जाकर जब जयसिंह बैठे तब उनको अपनी सभी पुरानी बातें याद आने लगीं। इस उपवन में, इस पत्थर के बने मन्दिर की पाषाण-रचित सीढ़ियों के बीच में, इस गोमती नदी के तट पर, उस विस्तृत वट की छाया में, उस छाया से घिरे हुए सरोवर की धार में, अपने बचपन का समय सुखद स्वप्नवत् स्मरण होने लगा। जो मनोमुग्ध-कर प्रिय दृश्य उनके बाल्यकाल को स्नेहपूर्वक अटका रखते थे वे सब आज हँस रहे हैं और उनको फिर अपने पास बुला रहे हैं। किन्तु उनका आत्मा उत्तर दे रहा है—'मैं यात्रा करके बाहर आया हूँ। मैं विदा हो चुका हूँ। मैं अब न लौटूँगा।' उजले पत्थर के मन्दिर पर सूर्य्य की किरणें पड़ रही हैं। और उसकी बाईं ओर दीवार पर मौलसिरी की हिलती हुई डालों की चञ्चल छाया नाच रही है। बाल्यावस्था में इस पत्थर के मन्दिर को वे जिस प्रकार सचेतन जानते थे, और इन सीढ़ियों के बीच बैठकर जब खेलते थे तब वे इन

सीढ़ियों को जिस प्रकार साथी मानते थे उसी प्रकार आज प्रातःकालिक सूर्य्य की किरणों में मन्दिर के सचेतन और उन सीढ़ियों को भी उसी प्रकार साथी मानकर बालपन की दृष्टि से देखने लगे। मन्दिर के भीतर देवी को आज फिर माँ कहकर पुकारने की इच्छा होने लगी, किन्तु ग्लानि के मारे उनका हृदय भर आया। उनकी आँखों से आँसू उमड़कर बह चले।

रघुपति को आते देखकर जयसिंह ने आँसू पोंछ डाले। वे गुरु को प्रणाम करके खड़े हो गये।

रघुपति ने कहा—आज पूजा का दिन है। देवी का पाँव छूकर क्या शपथ की थी, याद है?

जयसिंह—याद है।

रघुपति—शपथ का पालन करोगे?

जयसिंह—हाँ।

रघुपति—देखना बेटा, सावधानी से काम करना! जान पर आ पड़ने का डर है। मैंने तुम्हारी रक्षा का ख़याल करके ही राजा के विरुद्ध प्रजा को भड़का दिया है।

जयसिंह चुप होकर रघुपति के मुँह की ओर देखने लगे। उन्होंने कुछ भी जवाब न दिया। रघुपति उनके माथे पर हाथ रख कर बोला—मेरे आशीर्वाद से तुम अपने काम को निर्विघ्न सिद्ध कर सकोगे और देवी की आज्ञा का पालन कर सकोगे।

रघुपति चला गया।

दिन के तीसरे पहर राजा एक कमरे में बैठे ध्रुव के साथ दिल बहला रहे हैं। ध्रुव के आज्ञानुसार एक बार सिर से मुकुट उतारते हैं, फिर एक बार पहनते हैं। महाराज के इस क्लिष्ट व्यापार को देखकर ध्रुव हँसते-हँसते व्याकुल हो रहा है। राजा मुसकराकर बोले—मैं अभ्यास कर रहा हूँ। जिनकी आज्ञा से यह मुकुट आसानी से पहन सकता हूँ उनकी आज्ञा से इसे आसानी से उतार भी सकूँ। मुकुट का पहनना कठिन है, किन्तु उसका उतारना और भी कठिन है।

ध्रुव के मन में एक भाव का उदय हुआ। कुछ देर के बाद राजा की ओर देखकर और अपने मुँह में उँगली डालकर वह बोला—"तुम लाजा हो।" राजा शब्द के "र" अक्षर को एकबारगी उड़ाकर भी ध्रुव के मन में ज़रा सा अनुताप न हुआ। राजा के मुँह के सामने उनको "लाजा" कहकर उसने अपने जी में पूर्णरूप से आनन्द प्राप्त किया।

ध्रुव की इस धृष्टता को न सह करके राजा बोले—तुम लाजा। ध्रुव, तुम लाजा।

इस विवाद का अन्त न हुआ। किसी ओर कोई प्रमाण नहीं। केवल दैहिक बल के ऊपर बहस चल रही थी। आख़िर राजा ने अपना मुकुट लेकर ध्रुव के माथे पर रख दिया। तब तो ध्रुव को कुछ और कहने के लिए जगह न रही।

ध्रुव की सम्पूर्ण रूप से हार हुई। उस के मुँह का आधा

हिस्सा उस मुकुट के नीचे छिप गया। उसने अपने मुकुट युक्त बड़े माथे को झुलाकर मुकुट-रहित राजा को आज्ञा दी—कोई कहानी कहो।

राजा—कौन कहानी कहूँ?

ध्रुव—बहनवाली कहानी कहो।

ध्रुव कहानी-मात्र को बहनवाली कहानी समझता था। वह समझता था कि बहन जो कहानियाँ सुनाती थी उनके सिवा दुनिया में और कोई कहानी नहीं है।

तब राजा ने पुराण की एक बृहत् कथा कहनी आरम्भ की। वे कहने लगे—हिरण्यकशिपु नाम का एक राजा था।

राजा का नाम सुनकर ध्रुव बोल उठा—लाजा मैं हूँ।

अपने ढीले-ढाले विशाल मुकुट के ज़ोर से हिरण्यकशिपु के राजत्व को उसने एकबारगी नामञ्ज़ूर किया।

ख़ुशामदी सभासदों की तरह गोविन्दमाणिक्य उस मुकुट-धारी बालक को राज़ी करने के अभिप्राय से बोले—तुम भी लाजा और वह भी लाजा।

ध्रुव उसमें भी स्पष्ट-रूप से अपनी अनिच्छा प्रकट कर बोला—नहीं, मैं ही लाजा।

आख़िर जब महाराज ने कहा कि हिरण्यकशिपु लाजा नहीं था, वह लाक्स (राक्षस) था तब ध्रुव ने उसमें कोई आपत्ति न की।

उसी वक़्त नक्षत्रराय उस कमरे में आये और बोले—सुन

है कि महाराज ने किसी राज-काज के हेतु मुझे बुलाया है। मैं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

राजा ने कहा—ज़रा ठहर जाओ, इस क़िस्से को खतम कर लूँ।

राजा ने थोड़े में ही सारी कहानी कहकर ख़तम कर दी। "लाक्कस (राक्षस) दुष्ट था" इस प्रकार ध्रुव ने कहानी सुनकर संक्षेप में अपनी राय प्रकट की।

ध्रुव के माथे पर मुकुट देखकर नक्षत्रराय क्रुद्ध गये। ध्रुव ने जब देखा कि नक्षत्रराय की दृष्टि उसकी तरफ़ अटकी है तब उसने नक्षत्रराय को धीरता के साथ सूचित कर दिया—मैं लाजा हूँ।

नक्षत्रराय ने कहा—छिः, कोई ऐसी बात कहता है।

अब नक्षत्रराय ध्रुव के माथे से मुकुट उतार कर राजा के हाथ में देने को उद्यत हुए। मुकुट छिन जाने की सम्भावना देख ध्रुव सच्चे राजा की तरह चिल्ला उठा। गोविन्दमाणिक्य ने उसको इस आई हुई आफ़त से बचा लिया। उन्होंने नक्षत्र-राय को मुकुट न उतारने दिया।

अब गोविन्दमाणिक्य ने नक्षत्र राय से कहा—सुना है, रघुपति ठाकुर प्रजा में बे-तरह असन्तोष बढ़ा रहा है। तुम स्वयं शहर में जाकर इस बात की जाँच करो]और मुझे सूचित करो कि यह बात सच है या झूठ।

"जो आज्ञा" कहकर नक्षत्रराय चले गये। चले तो गये, पर ध्रुव के माथे का मुकुट उन्हें ज़रा भी अच्छा न लगा।

दरबान ने आकर इत्तिला की—पुजारीजी के सेवक जय-सिंह हुज़ूर में हाज़िर होने के लिए ड्योढ़ी पर खड़े हैं।

राजा—आने दो।

महाराज को प्रणाम करके जयसिंह हाथ जोड़ कर बोले—महाराज, मैं बहुत दूर देश जाने की तैयारी कर रहा हूँ। आप मेरे राजा हैं। मेरे गुरु हैं। आपसे आशीर्वाद लेने आया हूँ।

राजा ने पूछा—जयसिंह, कहाँ जाओगे?

जयसिंह ने कहा—महाराज, मुझे मालूम नहीं, मैं कहाँ जाऊँगा। और कोई भी नहीं कह सकता।

राजा को कुछ कहने के लिए उद्यत देखकर जयसिंह बोले—महाराज, आप रुकावट न डालें। आपके रुकावट डालने से मेरी यात्रा सफल न होगी। आशीर्वाद दीजिए कि यहाँ मेरे जो सन्देह थे वे सब दूर हो जायँ। यहाँ मेरे ऊपर जो एक तरह का मेघ छाया हुआ था वह फट जाय। आपके सदृश राजा के राज्य में पहुँच जाऊँ और शान्ति-सुख पाऊँ।

राजा ने पूछा—कब जाओगे?

जयसिंह ने कहा—आज शाम को। महाराज, समय अधिक नहीं है। इसलिए मैं अब आपसे विदा होता हूँ।

जयसिंह ने राजा को प्रणाम करके उनके पैरों की धूल माथे में लगाली। राजा के पैरों पर जयसिंह की आँखों से आँसू टपक पड़े।

जयसिंह जब जाने को तत्पर हुए तब ध्रुव ने धीरे धीरे उनके पास जाकर और उनके कपड़े को खींचकर कहा—तुम मत जाओ।

जयसिंह हँसकर खड़े हो गये। ध्रुव को गोद में उठाकर और उसके मुँह को चूमकर बोले—मैं किसके पास रहूँगा? मेरे कौन है?

ध्रुव ने कहा—मैं लाजा हूँ।

जयसिंह ने कहा—तुम राजा के भी राजा हो। तुमने अपने प्रेम में सभी को उलझा रक्खा है।

ध्रुव को गोद से उतारकर जयसिंह कमरे से बाहर हो गये। महाराज गम्भीर भाव से बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

आज चतुर्दशी तिथि है। मेघ घिर आये हैं। चन्द्रमा का उदय हो गया है। आकाश में कहीं प्रकाश और कहीं अन्धकार है। चाँद कभी बाहर निकलता है, कभी मेघ में छिप जाता है। गोमती के किनारे के जङ्गल चन्द्रमा की

ओर देखकर अपने घने अन्धकार को मर्माहत कर बीच-बीच में लम्बी साँस ले रहे हैं।

आज रात में लोगों को घर से बाहर निकलने की मनाही है। रात को रास्ते में चलता ही कौन है, किन्तु आज रुकावट है। इससे रास्ते की जन-शून्यता और भी अधिक गहरी मालूम होती है। बस्तीवालों ने अपने अपने घर का चिराग़ बुझाकर द्वार बन्द कर दिया है। रास्ते में एक भी चौकीदार नहीं आज चोर भी घर से बाहर नहीं निकलते। जिनको लाश जलाने के लिए श्मशान-घाट जाना है वे भी मुर्दे को घर में रक्खे सवेरा होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। जिनके घर में लड़का मरणासन्न है वे भी वैद्य को बुलाने के लिए आज बाहर नहीं जा सकते। और दिन जो भिखमङ्गे रास्ते में पेड़ के नीचे सोते थे वे आज गृहस्थों की गोशाला में आकर ठहरे हैं।

उस सन्नाटे की रात में गीदड़ और कुत्ते शहर के रास्तों पर इधर-उधर घूम रहे हैं। दो-एक चीते गृहस्थों के दरवाज़े के पास आकर झाँक रहे हैं। मनुष्यों में केवल एक व्यक्ति आज घर के बाहर है, और कोई नहीं। वह एक छुरी को नदी के किनारे पत्थर पर तेज़ कर रहा है और अन्यमनस्क होकर कुछ सोच रहा है। छुरी पर धार काफ़ी थी; किन्तु वह छुरी को तेज़ करने के साथ ही साथ अपने मानसिक विचार पर भी सान चढ़ाता जाता था, इसी से उसका छुरी को पैना करना समाप्त नहीं होता था। पत्थर की रगड़ खाकर वह तेज़ छुरी हिस्-

हिस् शब्द करती हुई हिंसा की लालसा से गरम हो उठी। अन्धकार के बीच अन्धकार की धारा बही जा रही थी। संसार के ऊपर से अन्धकारमय रात का पहर बहा जा रहा था और माथे के ऊपर आकाश-मण्डल में घने काले बादल का स्रोत बहता जा रहा था।

आख़िर जब मूसलाधार पानी बरसना शुरू हुआ तब जयसिंह को होश हो आया। वे उस गरम छुरी को म्यान के भीतर रखकर उठ खड़े हुए। पूजा का समय समीप आ पहुँचा है। उनको अपनी शपथ की बात याद आ गई। अब एक क्षण भी विलम्ब करने से काम न चलेगा।

दीपावली से आज मन्दिर जगमगा उठा है। तेरह देवताओं के मध्य में कालिका देवी खड़ी होकर मनुष्य-रक्त के लिये जीभ लपलपा रही है। मन्दिर के अन्यान्य कर्मचारियों को विदाकर चौदह देवताओं की मूर्तियों के सामने मन्दिर में रघुपति अकेला बैठा है। उसके आगे एक बृहत् खड्ग रक्खा हुआ है। वह स्थिर वज्र के सदृश चमकीला खुला खड्ग दीपों के प्रकाश में चमचमाता हुआ देवी की आज्ञा पालन करने की प्रतीक्षा कर रहा है।

आधी रात के समय पूजा होगी। समय क़रीब है। रघुपति बड़े व्याकुल-चित्त से जयसिंह के आने की बाट जोह रहा है।

एकाएक ज़ोर से हवा बहने लगी। मूसलाधार पानी बरसने लगा। हवा के झोंकों से मन्दिर के सभी दीपों की

शिखाएँ नाचने लगीं। नङ्गी तलवार के ऊपर बिजली खेलने लगी। चौदह देवताओं की और रघुपति की छाया मानो सजीव की भाँति नाचती हुई दीप-शिखाओं की ताल ताल पर मन्दिर की दीवारों पर नाचने लगी। एक मृत मनुष्य की खोपड़ी तेज़ हवा के झोंके से घर भर में लुढ़कने लगी। सूखे पत्तों की तरह दो चमगादर मन्दिर के भीतर आकर एकाएक उड़कर घूमने लगे। दीवारों पर उनकी छाया उड़ने लगी।

आधी रात का समय आ पहुँचा। पहले नज़दीक ही, फिर कुछ दूर और तब उससे भी कुछ अन्तर पर गीदड़ बोल उठे। हवा भी उनके साथ हू-हू शब्द करके रोने लगी।

पूजा का समय हो गया। रघुपति अशुभ के डर के मारे घबरा गया।

ऐसे समय में जयसिंह ने बिजली की तरह आधी रात के अन्धकार से निकलकर मन्दिर के प्रकाश में पाँव रक्खा। लम्बी चादर से देह ढँकी है। सारे शरीर से वर्षा का जल बहा जा रहा है। साँस तीव्र गति से चल रही है। आँख की पुतलियों से मानो आग की चिनगारियाँ झड़ रही हैं।

रघुपति ने जयसिंह को पकड़कर कान के पास मुँह ले जाकर पूछा—राज-रक्त ले आये ?

जयसिंह उसका हाथ हटाकर ऊँचे स्वर से बोले—"लाया हूँ; राज-रक्त लाया हूँ। आप हटकर खड़े हों, मैं देवी से

प्रार्थना करता हूँ।” उनके इन शब्दों से मानो मन्दिर काँप उठा। काली की मूर्त्ति के सामने खड़े हो कर वे कहने लगे—“जगदम्बिके, तो क्या सचमुच ही तुम सन्तान का रक्त चाहती हो ? राज-रक्त न मिले तो क्या तुम्हारी प्यास न मिटेगी ? मैं जन्म से तुम्हीं को माँ करके मानता आया हूँ। मैं और किसी की कुछ परवा नहीं रखता था। मेरे जीवन का कोई दूसरा उद्देश भी न था। मैं राजपुत्र हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ। मेरे परदादा राजा थे। मेरे मातामह के वंशज लोग अब तक राजशासन कर रहे हैं। तब तेरी सन्तान का रक्त यही है न, तेरा राज-रक्त यही है न।” चादर देह पर से गिर गई। कमर-बन्द से छुरी निकाली, मानो बिजली चमक उठी। एक ही पल में उस छुरी को उन्होंने अपनी छाती में भोंक लिया। मृत्यु के चोखे दाँत उनके कलेजे में गड़ गये। वे पछाड़ खाकर प्रतिमा के पैरों के पास गिर पड़े। पत्थर की मूर्त्ति ज़रा भी न हिली।

रघुपति चिल्ला उठा। उसने जयसिंह को उठाने की चेष्टा की, किन्तु नहीं उठा सका। आख़िर वह उनकी लाश पर गिर पड़ा। लोहू निकल-निकलकर मन्दिर के उजले पत्थर पर बहने लगा। एक-एक करके सभी दीप क्रमशः बुझ गये। उस अन्धकार में सारी रात एक प्राणी के साँस लेने का शब्द सुनाई देता रहा। रात के तीसरे पहर हवा थमी। चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया। रात के पिछले पहर मेघ के छिद्र

से चन्द्रमा का प्रकाश मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हुआ। चन्द्रमा की किरण जयसिंह के विवर्ण मुख पर पड़ी। चौदहों देवता सिरहाने की तरफ़ खड़े होकर यही देखने लगे। सुबह जब जङ्गल में चिड़ियाँ चहचहा उठीं तब रघुपति जयसिंह के मृतक कलेवर को छोड़कर उठ गया।

सोलहवाँ परिच्छेद

राजा के आज्ञानुसार प्रजा की अप्रसन्नता का कारण दरयाफ़्त करने के लिए स्वयं नक्षत्रराय सवेरे बाहर निकले। उनके मन में यह विचार होने लगा कि मैं मन्दिर में क्या करने जाऊँ। रघुपति के सामने पड़ जाने से वे एक तरह चञ्चल हो पड़ते थे और किसी प्रकार अपने को नहीं रोक सकते थे। रघुपति के सम्मुख होने की उनकी बिलकुल इच्छा न थी। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि रघुपति की दृष्टि बचाकर, छिपे तौर से, जयसिंह के पास जाऊँ। उसके द्वारा सब बातें अच्छी तरह मालूम हो जायँगी।

नक्षत्रराय धीरे धीरे जयसिंह की कोठरी में पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही सोचा कि लौट जाने में ही कुशल है। देखा कि जयसिंह की पुस्तकें, उनके कपड़े और घरेलू उपकरण चारों तरफ़ यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। बीच में रघपति बैठा है। जय-

सिंह का पता नहीं । रघुपति की लाल-लाल आँख अङ्गारे की तरह जल रही हैं । सिर के बाल बिखरे हुए हैं । नक्षत्र-राय को देखते ही ख़ूब ज़ोर से मुट्ठी कसकर रघुपति ने उनका हाथ पकड़ा और उनको ज़बर्दस्ती धरती पर बैठा लिया । नक्षत्रराय के तो होश उड़ गये । रघुपति अपनी लाल लाल आँखों से उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदय तक को दग्ध करता हुआ पागल की तरह बोला—रक्त कहाँ है ?

नक्षत्रराय के हृदय में मानों रक्त की तरङ्गें उछलने लगीं । दिल धड़कने लगा । मुँह से कोई बात न निकली ।

रघुपति ने ऊँचे स्वर से कहा—तुम्हारी प्रतिज्ञा कहाँ गई ? रक्त कहाँ है ?

नक्षत्रराय हाथ-पैर हिलान लगे, बाँईं ओर हटकर बैठ गये और अपने कपड़े का छोर हाथ में लेकर खींचने लगे । उनकी देह से पसीना बह चला । वे सूखे मुँह से बोले—पुरोहितजी !

रघुपति ने कहा—अब की बार देवी ने स्वयं तलवार उठाई है । इस बार चारों तरफ़ रक्त की धारा बहने लगेगी । इस बार तुम लोगों के वंश में एक बूँद लोहू तो बचेगा ही नहीं । तब मैं नक्षत्रराय का भ्रातृ-स्नेह देखूँगा ।

“भ्रातृस्नेह, हा ! हा ! हा !” इस प्रकार पहले की सी कोई हँसी नक्षत्रराय के मुँह से न निकली । उनका कण्ठ सूख गया ।

रघुपति ने कहा—मैं गोविन्दमाणिक्य का रक्त नहीं चाहता । इस संसार में गोविन्दमाणिक्य को जो प्राण से भी

अधिक प्रिय है मैं उसी का रक्त चाहता हूँ। उसका रक्त लेकर मैं गोविन्दमाणिक्य के शरीर में लपेटना चाहता हूँ। उसकी छाती लाल हो जायगी। उस लोहू का दाग़ किसी प्रकार न धुलेगा। यह देखो, आँख खोलकर देखो।

अब रघुपति ने चादर हटा दी। उसके सारे शरीर में लोहू लगा है, उसकी छाती के बीच कहीं-कहीं गाढ़ा लोहू जम गया है।

नक्षत्रराय सहम गये। उनके हाथ-पैर काँपने लगे। वज्र के सदृश कठोर मुट्ठी से नक्षत्रराय का हाथ दबाकर रघुपति बोला—वह कौन है? गोविन्दमाणिक्य को प्राणों से भी बढ़कर प्रिय कौन है? किसके न रहने से गोविन्दमाणिक्य की आँखों में यह संसार श्मशानवत् प्रतीत होगा और उनके जीवन का लक्ष्य चला जायगा? सवेरे शय्या से उठकर किसका मुँह उन्हें याद आता है? किसका स्मरण करते हुए वे सोने जाते हैं? उनके हृदयरूपी मन्दिर में सम्पूर्ण रूप से व्याप्त होकर कौन विराज रहा है? वह कौन है? क्या वह तुम्हीं हो?

अब रघुपति ने नक्षत्रराय की ओर इस तरह देखा जैसे चोट करने के पहले बाघ, भय से काँपते हुए, हिरन के बच्चे की ओर एकटक दृष्टि से देखता है।

नक्षत्रराय झटपट बोल उठे—नहीं, वह मैं नहीं हूँ।

किन्तु रघुपति की मुट्ठी को वे छुड़ा नहीं सके।

रघुपति—तो बतलाओ, वह कौन है?

नक्षत्र—वह ध्रुव है।

रघुपति – कौन ध्रुव ?

नक्षत्र – वह एक लड़का—

रघुपति बोला—मैं जानता हूँ। उसे जानता हूँ। राजा की वह अपनी सन्तान नहीं है। वे सिर्फ सन्तान की तरह उसका लालन-पालन करते हैं। लोग अपनी सन्तान का प्यार किस प्रकार करते हैं, सो मैं नहीं जानता ; किन्तु रक्षित सन्तान को प्राणों से भी बढ़कर लोग प्यार करते हैं, यह मैं जानता हूँ। अपनी सारी सम्पत्ति की अपेक्षा राजा उसके सुख को ही विशेष करके मानते हैं। अपने माथे पर मुकुट धारण करने की अपेक्षा उसके माथे पर मुकुट देख राजा को अधिक हर्ष होता है।

नक्षत्रराय आश्चर्ययुक्त होकर बोल उठे—ठीक है।

रघुपति – ठीक नहीं तो क्या है ! राजा उसे किस दर्जे तक प्यार करते हैं सो क्या मैं नहीं जानता ? उसे क्या मैं समझ नहीं सकता हूँ ? मैं भी उसी को चाहता हूँ।

नक्षत्रराय मुँह फैलाकर रघुपति की ओर देखने और मन में कहने लगे – मैं भी उसी को चाहता हूँ।

रघुपति ने कहा—उसको लाना ही होगा। आज ही लाना होगा। आज रात में ही उसे लाना चाहिए।

नक्षत्रराय प्रतिध्वनि की तरह बोले—आज रात में ही उसे लाना चाहिए।

नक्षत्रराय के चेहरे की ओर कुछ देर तक देखकर रघुपति कण्ठ-स्वर को कोमल करके बोला—यही लड़का तुम्हारा दुश्मन है। क्या तुम उसे जानते हो ? तुम राज-वंश में उत्पन्न हुए हो। कहाँ का एक अपरिचित-कुल-शील बालक तुम्हारे माथे का मुकुट हड़पने के लिए आया है सो क्या तुम समझते हो ? जो राज-सिंहासन तुम्हारे लिए अपेक्षा कर रहा था उस सिंहासन पर उसके लिए जगह निर्दिष्ट हो चुकी है। आँखें रहते भी क्या यह तुम्हें नहीं सूझता ?

नक्षत्रराय के लिए ये बातें नई नहीं हैं। उन्होंने भी पहले इस प्रकार सोचा था। जोर देकर बोले—आपको और कुछ नहीं कहना होगा। मैं क्या यह नहीं जानता।

रघुपति ने कहा—तो फिर उसको ले आओ, तुम्हारे सिंहासन का कण्टक दूर कर दूँ। दिन के इन कई पहरों को किसी तरह बिताकर तुम उसे किस वक्त लाओगे ?

नक्षत्रराय—आज शाम के वक़्त, अँधेरा हो जाने पर।

रघुपति जनेऊ छूकर बोला—जो न ला सकोगे तो ब्राह्मण का शाप लगेगा। मुँह से प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करोगे तो फिर समझ लो कि तीन दिन के भीतर ही भीतर तुम्हारे मुँह का मांस गिद्ध नोच-नोचकर खायँगे।

यह सुनकर नक्षत्रराय ने चौंककर अपने मुँह पर हाथ फेरा। कोमल मुँह पर गिद्ध के चञ्चु-प्रहार को भावना उन्हें

असह्य मालूम होने लगी। रघुपति को प्रणाम करके वे झट-पट वहाँ से चले गये। उस घर से निकलकर खुली हवा, प्रकाश और जन-समाज में जाकर नक्षत्रराय ने पुनर्जीवन प्राप्त किया।

सत्रहवाँ परिच्छेद

उस दिन शाम के वक्त नक्षत्रराय को देखकर ध्रुव "काका" कहकर दौड़ पड़ा। दोनों छोटे हाथों से उनके गले में लिपटकर उसने उनके गाल पर गाल और मुह के पास मुँह रक्खा और धीरे से कहा—काका।

नक्षत्रराय ने कहा—चुप, चुप, यह बात मत कहो। मैं तुम्हारा काका नहीं हूँ।

ध्रुव अब तक उन्हें बराबर काका ही कहता था। आज सहसा यह बात सुनकर वह अचम्भे में पड़ गया। कुछ देर तक वह गम्भीर भाव से चुप रहा, पर बाद को नक्षत्रराय के मुँह की ओर देखकर पूछा—तब तुम मेरे क्या लगते हो?

नक्षत्रराय ने कहा—मैं तुम्हारा काका नहीं लगता।

यह सुनकर ध्रुव को एकाएक बड़ी हँसी आई। इतनी बड़ी असम्भव बात इससे पहले उसने और कभी नहीं सुनी थी। वह हँसकर बोला—तुम काका लगते हो।

नक्षत्रराय जितना ही उसे रोकने लगे उतना ही वह कहने लगा—"तुम काका हो।" उसकी हँसी भी क्रमशः बढ़ने लगी। वह नक्षत्रराय को काका कहकर मानो चिढ़ाने लगा। नक्षत्र ने कहा—ध्रुव, तुम अपनी बहन को देखने जाओगे?

ध्रुव झटपट नक्षत्रराय का गला छोड़कर बोला—बहन कहाँ है?

नक्षत्र—देवी के पास।

ध्रुव—देवी कहाँ है।

नक्षत्र—देवी एक जगह है। मैं तुम्हें वहाँ पहुँचा सकता हूँ।

ध्रुव ने ताली बजाकर पूछा—तो काका, कब ले चलोगे?

नक्षत्र—अभी।

ध्रुव ख़ुशी के मारे चिल्लाकर नक्षत्र राय के गले से लिपट गया।

नक्षत्रराय उसको गोद में लेकर और चादर से ढककर गुप्त द्वार से बाहर हो गये।

आज रात में भी लोगों को बाहर निकलने की मनाही है। इसी से रास्ते में कोई पहरेदार नहीं, कोई पथिक नहीं। आकाश में पूर्ण चन्द्र विराजमान है।

नक्षत्रराय मन्दिर में जाकर ध्रुव को रघुपति के हाथ सौंपने को उद्यत हुए। उसको देखकर ध्रुव नक्षत्रराय से ज़ोर से लिपट गया। रघुपति ने उसे ज़बरदस्ती गोद से उतार

लिया। "काका" कहकर ध्रुव रोने लगा। नक्षत्रराय की आँखों में आँसू भर आये, किन्तु रघुपति के आगे अपने हृदय की कोमलता दिखलाते हुए उन्हें बड़ी लज्जा आई। उन्होंने स्वाँग कर लिया, मानो वे भी पत्थर के बने हैं। तब ध्रुव रो-रोकर बहन, बहन, कहकर पुकारने लगा। बहन उसकी थी कहाँ जो आवे। रघुपति ने वज्र के सदृश कठोर स्वर से उसे एक बार डपट दिया। इससे ध्रुव का रोना रुक गया, केवल रह-रहकर वह हिचकी लेने लगा। चौदहों देवता देखते रहे।

गोविन्दमाणिक्य आधी रात के समय, स्वप्नावस्था में, रोने की आवाज़ सुनकर जाग पड़े। उन्होंने एकाएक सुना; उनके झरोखे के नीचे से कोई अधीर स्वर से उन्हें पुकार रहा है—महाराज! महाराज!

राजा ने जल्दी से उठकर चन्द्रमा के प्रकाश में ध्रुव के चाचा केदारेश्वर को देखकर पूछा—क्यों, क्या हुआ?

केदारेश्वर—महाराज, मेरा ध्रुव कहाँ है?

राजा—क्यों, क्या अपनी चारपाई पर नहीं है?

केदारेश्वर कहने लगा—नहीं, जब मैंने तीसरे पहर ध्रुव को यहाँ न देखा तब खोज करने पर नक्षत्रराय के नौकर ने मुझसे कहा कि ध्रुव महल के भीतर युवराज के पास है। यह सुनकर मैं निश्चिन्त हो गया। रात अधिक बीतती देख मेरे मन में सन्देह हुआ। पूछने

पर मालूम हुआ कि युवराज अपने कोठे पर नहीं हैं। महाराज के पास आने के लिए मैंने बहुत अनुनय-विनय की किन्तु द्वारपाल ने मेरी एक न सुनी। इसी से मैंने खिड़की के नीचे से महाराज को पुकार कर जगाया है। मेरा अपराध क्षमा किया जाय।

राजा के मन में बिजली की तरह एक बात चमक उठी। उन्होंने चार पहरेदारों को बुलाकर कहा कि हथियारबन्द होकर मेरे साथ चलो। एक ने कहा—महाराज, आज रात को रास्ते से चलना मना है।

राजा ने कहा—मैं आज्ञा दे रहा हूँ।

केदारेश्वर साथ जाने को तत्पर हुए। राजा ने उनको लौटा दिया। आप उस जनशून्य रास्ते से चाँदनी के उजाले में मन्दिर की ओर चले।

मन्दिर का फाटक जब सहसा खुल गया तब देखा कि सामने तलवार रक्खे नक्षत्र और रघुपति दोनों मद्यपान कर रहे हैं। रोशनी तेज़ नहीं है, एक मामूली चिराग़ जल रहा है। ध्रव कहाँ है ? वह काली की प्रतिमा के पास नींद में बेख़बर सो रहा है। उसके गालों पर आँसू बहने का दाग़ सूख गया है। उसका नीचे का होंठ खुला हुआ है। मुख पर भय का कोई चिह्न नहीं है; कुछ चिन्ता नहीं है। वह मानो पत्थर की शय्या पर नहीं है, अभी बहन की गोद में

सोया है और बहन ने चुम्मा लेकर मानो उसकी आँखों के आँसू पोछ दिये हैं।

मद्य पीने से नक्षत्र का दिल खुल गया था अर्थात् वे मस्ती में आ गये थे। परन्तु रघुपति ठिकाने से बैठकर पूजा के मूहूत की प्रतीक्षा कर रहा था। नक्षत्र की बक-बक पर उसका किञ्चिन्मात्र ध्यान न था। नक्षत्र बक रहे हैं—पुरोहित महाशय, तुम मन ही मन डर रहे हो। तुम समझते हो कि मैं भी डरता हूँ। लेकिन डर कुछ नहीं। डर कैसा? किसका डर? मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम समझ रहे हो कि मैं राजा से डरता हूँ। मैं शाहशुजा से नहीं डरता; मुझे शाहजहाँ का डर नहीं। तुमने क्यों नहीं कहा, मैं राजा को पकड़ लाता। देवी को प्रसन्न कर देता। इस छोटे लड़के का रक्त ही कितना होगा?

इस समय एकाएक मन्दिर की दीवार पर परछाहीं पड़ी। नक्षत्रराय ने पीछे घूमकर देखा "राजा"। सारा नशा एक ही पल में उतर गया। अपनी परछाहीं की अपेक्षा भी वे अधिक म्लान हो गये। सोये हुए ध्रुव को गोविन्दमाणिक्य ने बड़ी फुरती के साथ गोद में उठाकर सिपाहियों को आज्ञा दी कि इन दोनों को गिरफ्तार कर लो।

सिपाहियों ने रघुपति और नक्षत्रराय के दोनों हाथ पकड़ लिये। ध्रुव को छाती से चिपटाकर गोविन्दमाणिक्य चाँदनी के उजाले में उस जन-शून्य पथ से राज-भवन लौट आये। रघुपति और नक्षत्रराय सारी रात हिरासत में रहे।

अठारहवाँ परिच्छेद

आज उस अभियोग का विचार होने वाला है। न्याया-लय में लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी है। विचार करने के लिए राजा विचारासन पर विराजमान हैं। सभासद् लोग चारों ओर बैठे हैं। सामने दोनों अपराधी खड़े हैं। किसी के हाथ में हथकड़ी नहीं है, केवल हथियारबन्द सिपाही उन दोनों को घेरे खड़े हैं। रघुपति पत्थर के पुतले की तरह खड़ा है। नक्षत्रराय सिर झुकाये हुए हैं।

राजा ने रघुपति के अपराध को प्रमाणित करके उससे पूछा—तुमको क्या कहना है ?

रघुपति ने कहा—मेरा विचार करने का अधिकार आपको नहीं है।

राजा—तो तुम्हारा विचार कौन करेगा ?

रघुपति—मैं ब्राह्मण हूँ। मैं देवता का सेवक हूँ। मेरा विचार देवता ही करेंगे।

राजा—ईश्वर तो सबका विचार करते ही हैं। हम लोग उनके राजदण्डस्वरूप हैं। हम लोगों के द्वारा ही वे अपराधियों के दण्ड की व्यवस्था करते हैं। पाप का दण्ड और धर्म का पुरस्कार देने के लिए संसार में उनके हज़ारों अज्ञावर्ती सेवक वर्त्तमान हैं। मैं भी उन्हीं में से एक हूँ। परंतु, उन बातों को लेकर मैं तुम्हारे ऊपर विचार की ज़्यादती दिखलाना नहीं चाहता।

मैं इतना ही पूछता हूँ कि कल सन्ध्या के समय बलिदान की इच्छा से तुमने एक बालक को चुरा रक्खा था या नहीं ?

रघुपति—हाँ।

राजा—तुम अपराध स्वीकार करते हो न ?

रघुपति—अपराध ! अपराध कैसा ! मैं देवी की आज्ञा का पालन करता था; देवी का काम करता था। तुमने उसमें बाधा डाली है, अतएव अपराध तो तुमने किया है। मैं देवी के मन्दिर का अध्यक्ष हूँ। तुमको अपराधी समझता हूँ। वह तुम्हारे अपराध का विचार करेगी।

उसकी बात का कुछ जवाब न देकर राजा बोले—मेरा नियम यही है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर जीवबलि देगा या देने का उद्योग करेगा उसको देश-निकाले का दण्ड दिया जायगा। वही दण्ड मैंने तुम्हारे लिए निर्धारित किया है। आठ वर्ष के लिए तुम निर्वासित किये गये। सन्तरी लोग तुमको मेरे राज्य से बाहर निकाल आवेंगे।

सन्तरी लोग रघुपति को कचहरी से बाहर ले जाने को उद्यत हुए। रघुपति ने उन लोगों से कहा—ठहरो। वह राजा की ओर देखकर बोला—तुम्हारा न्याय तो हो चुका। अब मैं तुम्हारे अपराध का फ़ैसला करूगा। ध्यान देकर सुनो—चौदह देवताओं की पूजा की दो रातों में जो कोई बाहर निकलेगा उसे पुरोहित दण्ड देगा। मेरे मन्दिर का यही नियम है। इस पुराने नियम के अनुसार तुम मेरे निकट दण्डनीय हो।

राजा—तुम्हारा दण्ड स्वीकार करने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ।

सभासदों ने कहा—इस अपराध के लिए केवल जुर्माना हो सकता है।

पुरोहित ने कहा—मैं दो लाख रुपये जुर्माना करता हूँ। अभी देना होगा।

राजा ने कुछ देर तक सोचकर कहा तथास्तु—ख़ज़ानची को बुलाकर उन्होंने दो लाख रुपये देने की आज्ञा दे दी। सन्तरी लोग रघुपति को बाहर ले गये।

रघुपति के चले जाने पर नक्षत्रराय की ओर देखकर राजा कड़ककर बोले—नक्षत्रराय, तुम अपने अपराध को स्वीकार करते हो या नहीं?

महाराज, मैं अपराधी हूँ। मुझे क्षमा कीजिए—यह कहते हुए नक्षत्रराय दौड़कर राजा के पैरों में लिपट गये।

महाराज घबरा गये। कुछ देर तक कुछ न बोल सके। आख़िर अपने को सँभालकर बोले—नक्षत्रराय, उठो। मेरी बात सुनो। मैं क्षमा करने वाला कौन? मैं अपने नियम का आप पाबन्द हूँ। जैसे अपराधी बँधा होता है वैसे ही न्याय-कर्त्ता भी बँधा रहता है। एक ही अपराध में एक आदमी को दण्ड दूँगा और एक को क्षमा प्रदान करूँगा, यह क्योंकर हो सकता है? तुम्हीं इसका विचार करो।

सभासद् बोल उठे—महाराज, नक्षत्रराय आपके भाई हैं। आप भाई को क्षमा कीजिए।

राजा कुछ कड़ी आवाज़ करके बोले—तुम लोग चुप रहो, जितनी देर तक मैं इस आसन पर बैठा हूँ उतनी देर तक मैं न किसी का भाई हूँ, न किसी का मित्र।

सभासद् लोग चुप हो रहे। राजा कहने लगे—तुम लोग सुन चुके हो, मेरे राज्य के लिए यही नियम हुआ है कि जो व्यक्ति देवता के नाम पर जीवबलि देगा या देने का उद्योग करेगा उसको देश-निकाले का दण्ड दिया जायगा। कल शाम के वक्त पुरोहित के साथ षड्यन्त्र करके नक्षत्रराय बलि देने की नीयत से एक बालक को चुरा ले गये थे। इस अपराध के सिद्ध हो जाने पर मैंने इनके लिए आठ वर्ष देश-निकाले का दण्ड निर्धारित किया है।

जब सन्तरी लोग नक्षत्रराय को ले जाने पर उद्यत हुए तब राजा ने आसन से नीचे उतरकर नक्षत्रराय को गले लगाया और रुद्ध-कण्ठ से कहा—प्यारे, केवल तुम्हीं को सज़ा नहीं हुई किन्तु मुझे भी सज़ा हुई है। न मालूम पूर्व जन्म में मैंने क्या भूल की थी। जितने दिन तुम अपने भाई-बन्धुओं से अलग रहो उतने दिन देवता तुम्हारे साथ-साथ फिरें और तुम्हारा कल्याण करें।

बात की बात में यह ख़बर सर्वत्र फैल गई। महल के भीतर से रोने-पीटने की आवाज़ आने लगी। राजा एक कोठरी में किवाड़ बन्द करके बैठ रहे और हाथ जोड़कर ईश्वर से प्रार्थना करने लगे—प्रभो, यदि मैं कभी अपराध करूँ तो मुझे

क्षमा न करो, मुझ पर ज़रा भी दया न दिखाओ, मुझको मेरे पाप की सज़ा दो। पाप करके दण्ड का भार उठाया जा सकता है किन्तु क्षमा का भार नहीं उठाया जा सकता।

राजा के मन में नक्षत्रराय पर दूना प्रेम जागृत हो उठा। नक्षत्रराय के बाल्यकाल का मुँह उन्हें याद आने लगा। नक्षत्र ने जो खेल खेले हैं, जो बातें कहीं और काम किये हैं वे सब एक-एक करके उनके मन में आने लगे। एक-एक दिन, एक-एक रात—अपने सूर्य के प्रकाश में, अपने तारागणों से भरे आकाश में—बालक नक्षत्रराय को लेकर उनके सम्मुख उदय होने लगी। राजा की आँखों से आँसू बहने लगे।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

जब राज्य के बाहर होने के लिए रघुपति तैयार हुआ तब सिपाहियों ने पूछा—आप किस ओर जायँगे?

रघुपति ने कहा—पच्छिम की ओर।

नौ दिन तक बराबर पच्छिम की ओर जाने के बाद सिपाही लोग ढाका शहर के आस-पास पहुँचे। तब वे लोग रघुपति को वहाँ छोड़कर राजधानी लौट आये।

रघुपति मन ही मन कहने लगा कि कलियुग में ब्राह्मण का शाप नहीं लगता। देखें तो ब्राह्मण की बुद्धि से क्या-क्या काम होता है। देखें गोविन्दमाणिक्य कैसा राजा है और मैं किस तरह का पुरोहित हूँ।

त्रिपुरा की सरहद में, मन्दिर के भीतर, मुग़ल-राज्य की कुछ विशेष वार्ता नहीं पहुँचती थी। इसीलिए रघुपति ढाका शहर में जाकर मुग़लों की रीति-नीति और राज्य की हालत जानने के लिए उत्कण्ठित हुआ।

उस समय मुग़ल बादशाह शाहजहाँ का राजत्व-समय था। उनके तीसरे बेटे औरङ्गज़ेब दक्खिन में बीजापूर पर चढ़ाई करने के लिए तैनात किये गये थे; द्वितीय पुत्र शुजा बङ्गाल के सूबेदार थे। 'राजमहल' उनकी राजधानी थी। बादशाह के सबसे छोटे लड़के मुराद गुजरात के शासक थे। बड़े बेटे युवराज दारा थे। वे दिल्ली में ही रहा करते थे। बादशाह की उम्र उनहत्तर बरस की हो चुकी थी। उनका शरीर अस्वस्थ होने के कारण बादशाहत के कामों का भार बिल्कुल दारा के ही ऊपर आ पड़ा था।

रघुपति ने कुछ दिन तक ढाके में रहकर उर्दू भाषा सीखी। इसके बाद वह राजमहल की ओर रवाना हुआ। जिस समय वह राजमहल पहुँचा उस समय हिन्दुस्तान में खलबली मच गई थी। सर्वत्र यह ख़बर फैल गई थी कि शाहजहाँ अब स्वर्ग-वास करने ही वाले हैं। यह ख़बर सुनते ही सेना को साथ लेकर शुजा दिल्ली की ओर बड़े वेग से रवाना हुए। बादशाह के चारों बेटे मृतप्राय शाहजहाँ के सिर पर से एकबारगा शाही ताज लेने का अलग-अलग उद्योग करने लगे।

शुजा से शून्य राजमहल को तुरन्त छोड़कर, रघुपति

शुजा के पीछे जाने को तैयार हो गया। उसने अपने साथ के मज़दूरों को विदा कर दिया। साथ के दो लाख रुपयों को उसने राजमहल के पासवाले एक घने जङ्गल में गाड़कर छिपा दिया और उसके ऊपर एक चिह्न बना दिया। अपने पास ख़र्च के लिये कुछ रुपये रख लिये। जले हुए घर, जनशून्य गाँव और रौंदे हुए धान के खेतों को लक्ष्य करके रघुपति लगातार आगे बढ़ने लगा। उसने सन्यासी का वेष बना लिया। किन्तु संन्यासी के वेष-विन्यास पर भी उस समय आतिथ्य-सत्कार पाना कठिन था। कारण यह कि शुजा की फ़ौजें टिड्डी-दल की तरह जिस रास्ते होकर गई हैं उसके दोनों ओर अन्न की कमी है। सैनिक लोग झुण्ड के झुण्ड घोड़ों और हाथियों के लिए कच्चे ही धान काटकर ले गये हैं। किसानों के लिए अन्न का एक भी दाना नहीं बचा। चारों ओर लुट के मारे कृषि की बुरी दशा है। बहुत से लोग तो गाँव छोड़कर भाग गये हैं। संयोग से दो-एक आदमी दिखाई भी देते हैं तो उनके मुँह पर बिल्कुल उदासी छाई है, हँसी का चिह्न तक नहीं। वे भयभीत हरिण की तरह चौकन्ने हो रहे हैं। वे न किसी पर विश्वास करते हैं और न किसी पर दया करते हैं। निर्जन मार्ग में पेड़ के नीचे दो-चार मनुष्य हाथ में लाठी लिये बैठे देख पड़ते हैं। पथिक-रूपी शिकार के लिये वे दिन भर प्रतीक्षा करते हैं। धूमकेतु के पीछे रहने वाली उल्काराशि की तरह डाकू लोग फ़ौजों के

पीछे-पीछे लूट से बचे हुए माल को लूटते जाते हैं। यहाँ तक कि मुरदे पर जैसे गीदड़ और कुत्तों में कभी-कभी छीना-झपटी होती है वैसे ही बीच-बीच में फ़ौजों के साथ डाकुओं की लड़ाई हो जाती थी। निर्दयता फ़ौज के लिए खेल की चीज़ थी। बेचारे पार्श्ववर्ती बटोही के पेट में खप से तलवार की नोक भोंक देना या वस्त्र-सहित उसकी खोपड़ी उड़ा डालना वे लोग हँसी-खेल समझते थे। बस्तीवाले फ़ौज देखकर डरते हैं, इससे फ़ौजवालों का बड़ा विनोद होता था। लूटने के बाद वे लोग गाँववालों की अनेक प्रकार की दुर्दशा करके दिल बहलाते थे। दो कुलीन ब्राह्मणों की पीठ में पीठ सटाकर और चोटी से चोटी बाँधकर उनकी नाक में तीक्ष्ण सुँघनी सुँघाते थे। दो घोड़ों की पीठ पर एक आदमी को चढ़ाकर घोड़ों को चाबुक मारते थे। दोनों घोड़ों के दो दिशाओं में दौड़ने के कारण वह सवार बीच में धम से गिर पड़ता था। बेचारे के हाथ-पाँव टूट जाते थे। सैनिकगण रोज़ इसी तरह नये-नये खेल निकाला करते थे। अकारण ही गाँव के गाँव जला दिये जाते थे। वे कहा करते थे कि बादशाह के सम्मानार्थ यह आतिशबाज़ी दिखलाई जा रही है। इस प्रकार सैनिकों के सैकड़ों अत्याचारों के चिह्न यत्र-तत्र पड़े हैं। ऐसी जगह रघुपति का आतिथ्य कौन करे? किसी दिन उपवास करके, किसी दिन कुछ थोड़ा सा खाकर, वह समय बिताने लगा एक रात को अँधेरे में एक जनशून्य टूटी-फूटी झोपड़ी में

वह थक कर सो रहा। सवेरे उठकर देखा कि वह एक शिर-विहीन लाश को तकिया बनाकर सारी रात सोता रहा है। एक दिन दोपहर के समय रघुपति ने भूख से व्याकुल होकर किसी के घर जाकर देखा कि एक आदमी अपने खुले, टूटे-फूटे, सन्दूक़ पर झुका हुआ पड़ा है। जान पड़ता था, मानो वह अपने लुटे हुए धन के लिए सोच कर रहा है। पास जाकर ज़रा हाथ लगाते ही वह लुढ़ककर नीचे गिर गया। वह मुरदे की ठठरी-मात्र थी। उसके प्राण निकले कई दिन हो गये थे।

एक दिन रघुपति एक घर में लेट गया। रात बिलकुल ख़तम नहीं हुई है। सुबह होने में अभी कुछ देर है। ऐसे समय धीरे-धीरे द्वार खुल गया। शरद ऋतु की चाँदनी के साथ ही साथ कितनी ही परछाइयाँ घर के भीतर आ गईं। लोगों के मन्द-मन्द बोलने की कुछ आहट सुन पड़ी। रघुपति चौंककर उठ बैठा। उसके उठते ही कुछ स्त्रियाँ डरकर कुछ कहने लगीं। एक मर्द आगे बढ़कर बोला—कौन है रे?

रघुपति—मैं एक बटोही ब्राह्मण हूँ। तुम लोग कौन हो?

उत्तर मिला—यह हमारा ही है। हम लोग घर छोड़कर भाग गये थे। जब सुना कि मुग़लों का फ़ौज चली गई तब यहाँ आये हैं!

रघुपति—मुग़लों की सेना किस ओर गई है

उसने कहा—विजयगढ़ की ओर। अब वे लोग विजयगढ़ के जङ्गल में पहुँचे होंगे।

रघुपति और कुछ बात न करके वहाँ से तुरन्त चला गया।

बीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ का विस्तृत वन चोर-डाकुओं का अड्डा है। जङ्गल के बीच होकर जो सड़क गई है उसके दोनों ओर मनुष्यों की कितनी ही ठठरियाँ पड़ी हैं, जिन पर जङ्गली फूल फूल रहे हैं; और कुछ चिह्न देख नहीं पड़ता। जङ्गल के भीतर अधिकतर बड़, बबूल और नीम के पेड़ हैं। सैकड़ों तरह की लताएँ और पौदे हैं। बीच-बीच में कोई-कोई गढ़ा तालाब सा दिखाई देता है। निरन्तर पत्ते पड़ने और उनके सड़ने के कारण उस गढ़े का पानी बिलकुल हरा हो गया है। कितनी ही छोटी-मोटी पगडंडियाँ इधर-उधर, साँप की तरह, टेढ़ी-मेढ़ी होकर घने जङ्गल में चली गई हैं। पेड़ों की डाल-डाल पर झुण्ड के झुण्ड वानर बैठे हैं। बड़ के पेड़ की डालों से सैकड़ों वट-जटाएँ तथा वानरों की पूछें झूल रही हैं। टूटे-फूटे मन्दिर के आँगन में हरसिंगार के वृक्ष उजले-उजले फूलों से तथा वानरों के दाँतों की चमक से बिलकुल छिप गये हैं। शाम के वक़्त पेड़ों पर अगणित तोतों की टें-टें से घने जङ्गल का घोर अन्धकार मानों खण्ड-खण्ड होकर फटा

जा रहा है। आज इस विस्तृत वन में प्रायः बीस हज़ार सेना घुस पड़ी है। डालों, पत्तों, लताओं और पौदों से घिरा हुआ यह जङ्गल बड़ा गोलाकार मालूम होता है, मानो तीखे नख-चोंचवाले बाज़ के समान उस सेना का एक-मात्र घोंसला हो। एक साथ इतनी सेना का आगमन देखकर अगणित कौए काँव-काँव करते हुए दल बाँधकर आसमान में घूमने लगे हैं। डाल पर आकर बैठने का उन्हें साहस नहीं होता। किसी तरह की गड़बड़ न करने की सेनापति की सख्त ताकीद थी। सैनिक लोग सारे दिन सफ़र करके, शाम के वक़्त जङ्गल में आकर, सूखी लकड़ियाँ बटोरकर रसोईं बना रहे हैं और आपस में चुपके-चुपके बातचीत कर रहे हैं। उन लोगों की गुनगुनाहट से सारा जङ्गल गनगना गया है। इसी से सन्ध्या समय में भी झिल्लियों की झनकार सुनाई नहीं देती। पेड़ों के तनों से बधे हुए घोड़े रह-रहकर टापों से धूल उड़ा रहे हैं और हिन-हिनाते हैं, जिससे सारा जङ्गल काँप उठता है। टूटे मन्दिर के पास ख़ाली जगह में शाहशुजा का ख़ेमा खड़ा है। और सब लोग पेड़ों के नीचे ही ठहरे हैं।

लगातार दिन भर चल कर रघुपति ने जङ्गल के भीतर पैर रक्खा। अब रात हो चुकी है। अधिकांश सैनिक गाढ़ी नींद में सो रहे हैं। थोड़ी सी सेना चुपचाप पहरा दे रही है। बीच-बीच में किसी-किसी जगह आग बल रही है। जान पड़ता है, जैसे अन्धकार ने बड़े कष्ट से अपनी नींद-भरी

लाल आँखें खोली हैं। वन में पाँव रखते ही मानो रघुपति ने बीसों हज़ार सेना के साँस लेने का शब्द सुना। हज़ारों पेड़ अपनी शाखाओं को फैलाकर जङ्गल का पहरा दे रहे हैं। उल्लू पक्षी अपने तुरत के जने बच्चे के ऊपर जिस तरह छाती रखकर और पङ्ख पसारकर बैठता है उसी तरह जङ्गल के बाहरवाली विशाल रात्रि जङ्गल के भीतरवाली रात को दबाये और अपने डैनों से छिपाये चुपचाप बैठी है। जङ्गल के भीतरवाली रात मुँह छिपाकर सो रही है और जङ्गल के बाहरवाली रात सिर उठाकर जाग रही है। रघुपति उस रात को जङ्गल के बाहरी हिस्से में सो रहा।

बे-ख़बर सोते हुए रघुपति को सबेरे के वक़्त किसी ने आकर एकाएक झँझोड़ दिया। रघुपति हड़बड़ाकर उठ बैठा। देखा कि पगड़ी बाँधे लम्बी दाढ़ीवाले कई मुग़ल सिपाही अपनी बोली में उससे कुछ कह रहे हैं, जिसे सुनकर उसने अनुमान किया कि वे लोग गाली दे रहे हैं। तब उसने भी बँगला में उन लोगों को साला कहकर अपने सम्बन्ध का परिचय दिया। वे लोग रघुपति के साथ खींचा तानी करने लगे। रघुपति ने कहा—तुम लोगों ने क्या ठट्ठा समझ लिया है? यद्यपि उन लोगों के आचरण से ठट्ठे का कोई लक्षण प्रकट नहीं हुआ। जङ्गल के भीतर से वे लोग उसे निःशङ्क भाव से खींचकर ले जाने लगे। रघुपति विशेष रूप से अपनी अप्रसन्नता प्रकट करके बोला—खींचातानी क्यों कर रहे हो? मैं आप चलता

हूँ। नहीं तो मैं इतनी दूर आता ही क्यों ?" सैनिक हँसने और उसकी बँगला बोली का अनुकरण करने लगे। धीरे-धीरे उसके चारों ओर बहुत से सिपाही इकट्ठे हो गये। उसके सम्बन्ध में बड़ा कोलाहल मच गया। उसकी दुर्दशा का अन्त न रहा। एक सिपाही ने गिलहरी को, पूँछ पकड़कर, रघुपति के मुँड़े हुए माथे पर यह देखने के लिए रख दिया कि उस मुण्डित मस्तक को फल के धोखे वह खाती है या नहीं। एक सिपाही रघुपति की नाक के पास एक मोटे बेत को टेढ़ा करके साथ-साथ चला; उस झुके हुए बेत को छोड़ देने से रघुपति के मुँह पर से नाक की मर्यादा बिलकुल न रहने की आशङ्का थी। सैनिकों की हँसी से सारा जङ्गल गूँजने लगा। आज दिन को दोपहर के समय युद्ध करना होगा। इसी से सबेरे दिल बहलाने के लिए रघुपति को उन लोगों ने एक तमाशा बना डाला। जब तमाशे के सभी दृश्य समाप्त हो गये तो सिपाही लोग ब्राह्मण को शुजा के खेमे में ले गये। शुजा को देखकर रघुपति ने सलाम नहीं किया। वह देवता और ब्राह्मणों के सिवा और किसी के सामने सिर न नवाता था। इसी से अपने सिर को उन्नत करके खड़ा रहा। हाथ उठाकर कहा—शाहजहाँ बादशाह की जय हो।

शुजा शराब का प्याला हाथ में लिये बैठे थे। सुस्ती से भरी हुई आवाज़ में घृणा के साथ पूछा—क्या मामला है ?

सैनिकों ने कहा—हुज़ूर, यह शत्रुओं का जासूस हम

लोगों का भेद लेने आया था। हम लोगों ने इसे गिरफ़्तार कर लिया है।

शुजा ने कहा—अच्छा, अच्छा, वह बेचारा देखने के लिए आया है। उसे सब चीज़ें अच्छी तरह दिखलाकर छोड़ दो। अपने यहाँ जाकर लोगों से सब हाल कहेगा।

रघुपति ने टूटी-फूटी हिन्दी में कहा—हुज़ूर का मातहद में हम कोई टु काम करने को अर्ज़ करता हूँ।

शुजा ने आलस्य के साथ हाथ हिलाकर शीघ्र चले जाने का इशारा किया। कहा—"ओफ़, बड़ी गरमी है।" जो पङ्खा झलता था वह दुगुना ज़ोर लगाकर पङ्खा झलने लगा।

दारा ने अपने बेटे सुलेमान को, जयसिंह के नेतृत्व में, शुजा का आक्रमण रोकने के लिए भेजा है। शुजा को ख़बर मिली है कि वह बृहत् सैन्यदल समीप आ पहुँचा है। इसी से वे विजयगढ़ के क़िले पर अधिकार करके वहाँ फ़ौज एकत्र करने के लिए आतुर हो पड़े हैं। शुजा के हाथ में क़िला और सरकारी ख़ज़ाना सौंप देने का प्रस्ताव लेकर विजयगढ़ के महाराज विक्रमसिंह के पास दूत गया था। विक्रमसिंह ने उस दूत की ज़बानी कहला भेजा—मैं केवल दिल्लीपति बादशाह शाहजहाँ को तथा संसार के स्वामी शङ्कर को जानता हूँ। शुजा कौन हैं? मैं उन्हें नहीं जानता।

शुजा रुकती ज़बान से बोले—ओफ़! बड़ा बेअदब! फिर नाहक़ लड़ाई करनी होगी।

रघुपति ने इन बातों को सुन लिया। सेना के हाथ से छूटते ही वह विजयगढ़ की ओर चला।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

विजयगढ़ पहाड़ के ऊपर है। वहाँ का जङ्गल क़िले के आस-पास जाकर ख़तम हुआ है। जङ्गल से निकलकर रघुपति ने एकाएक देखा कि पत्थरों का बना हुआ ऊँचा क़िला मानों काले आसमान में तनकर खड़ा है। जिस प्रकार जङ्गल अपने हज़ारों वृक्षों से ढका रहता है उसी प्रकार क़िला भी अपने पत्थरों के बीच आप ही बन्द है। जङ्गल सावधान है तो क़िला भी सतर्क है। जङ्गल बाघ की तरह छिपकर पूछ दबाये बैठा है तो क़िला सिंह की तरह अपनी अयालों को फैलाकर और गर्दन टेढ़ी किये खड़ा है। जङ्गल धरती में कान लगाकर सुन रहा है। क़िला आसमान में सिर उठाकर देख रहा है।

जङ्गल से रघुपति के निकलते ही क़िले की दीवाल के ऊपरवाले सैनिक चौंक उठे। तुरही बजने लगी। क़िला मानों एकाएक सिंह की तरह गरजकर, अपने नख-दाँतों को निकाल, और भौंहें चढा, तनकर खड़ा हो गया।

रघुपति जनेऊ दिखाकर और हाथ उठाकर इशारा करने लगा। सिपाही लोग सावधान होकर खड़े रहे।

जब रघुपति क़िले की दीवाल के पास गया तब सिपाहियों ने पूछा—तुम कौन हो?

रघुपति—मैं अतिथि ब्राह्मण हूँ।

क़िले के मालिक महाराज विक्रमसिंह बड़े धर्मात्मा हैं। देवता, ब्राह्मण और अतिथियों की सेवा में वे सदा तत्पर रहते हैं। जनेऊ रहने से फिर क़िले के भीतर घुसने के लिए और किसी परिचय की आवश्यकता न थी। किन्तु आज लड़ाई के दिन क्या करना चाहिए, इसका सैनिक लोग कुछ ठीक न कर सके। रघुपति ने कहा—तुम लोग मुझे आश्रय न दोगे तो मुसलमानों के हाथ से मेरी मृत्यु होगी।

विक्रमसिंह के कानों में जब यह बात पड़ी तब उन्होंने क़िले के भीतर ब्राह्मण को आश्रय देने के लिए आज्ञा दी। क़िले की दीवाल पर से एक सीढ़ी नीचे लटका दी गई। रघुपति ने उसी के सहारे क़िले के भीतर प्रवेश किया।

क़िले के भीतर युद्ध की प्रतीक्षा से सभी लोग व्यग्र हो रहे हैं। ब्राह्मण के सत्कार का भार स्वयं बूढ़े काका साहब ने लिया। उनका नाम है खड्गसिंह; परन्तु उन्हें कोई काका साहब कहता है और कोई सूबेदार साहब। लोग उन्हें इस तरह क्यों कहा करते हैं, इसका कोई कारण नहीं। इस संसार में उनके एक भी भतीजा नहीं, भाई नहीं, उन्हें काका

होने का कोई हक़ नहीं और आगे होने की कोई सम्भावना भी नहीं। उनके भतीजों की जितनी संख्या है, उसकी अपेक्षा उनकी सूबेदारी अधिक नहीं है। अर्थात उनके अधिकार में एक भो सूबा नहीं; किन्तु आज तक किसो ने उनके ओहदे के सम्बन्ध में कुछ आपत्ति या सन्देह नहीं किया। जो लोग बिना भतीजे के चचा और बिना सूबे के सूबेदार कहलाते हैं उन्हें पदच्युत होने का कोई डर नहीं। अनित्यता के साथ संसार का और चञ्चलता के साथ लक्ष्मी का जो सम्बन्ध है वही उन ओहदों के साथ उनका है। जब कारण नहीं तब कार्य कैसा ?

काका साहब ने "वाह-वाह ! ये तो सचमुच ब्राह्मण हैं" कहकर भक्तिभाव से प्रणाम किया। रघुपति का स्वरूप दीप-शिखा की तरह देदीप्यमान था, जिसे देखकर पतङ्ग के सदृश लोग एकाएक मुग्ध हो जाते थे।

काका साहब ने संसार की वर्तमान समय की शोचनीय अवस्था पर खिन्न होते हुए कहा—देवताजी, तब के से ब्राह्मण आजकल कितने मिलते हैं ?

रघुपति—बहुत थोड़े।

काका साहब—पहले ब्राह्मणों के मुँह में आग रहती थी, अब सब आग पेट के आश्रित हुई है।

रघुपति—सो भी क्या पूर्ववत् है !

काका साहब ने सिर हिलाकर कहा—ठीक बात। अगस्त्य मुनि जिस प्रकार से पानी पी गये थे उसी अन्दाज़ से यदि भोजन करते तो क्या होता! इस बात को आप एक बार ग़ौर करके देखिए।

रघुपति ने कहा—और भी कुछ उदाहरण हैं!

काका साहब—हाँ, हैं क्यों नहीं। जह्नु मुनि की प्यास की बात सुनी जाती है, पर उनकी भूख की बात कहीं लिखी नहीं। अनुमान करके देखिए। हड़ खाने से ही भूख कम लगती है सो बात नहीं। वे प्रति दिन कितनी हड़ें खाते थे, इसका हिसाब होता तो कुछ समझ में आता।

ब्राह्मणों की महिमा स्मरण करके रघुपति गम्भीर स्वर में बोला—नहीं साहब, भोज़न के ऊपर उन लोगों का विशेष ध्यान नहीं था।

काका साहब ने दाँतों में जीभ दबाकर कहा—राम, राम, यह आप क्या कहते हैं। उन लोगों का जठरानल बड़ा ही प्रबल था, इसका पूरा प्रमाण है। इसे क्यों नहीं सोचते? समय के फेर से सभी आग बुझ गई। होम की आग भी नहीं जलती। रघुपति ने कुछ दुखी होकर कहा—"होम की आग अब क्योंकर जलेगी? देश में घी रहा नहीं, म्लेच्छ लोग गायों को खाये जाते हैं। अब होम की सामग्री मिलती है कहाँ? होम की आग न जलने से ब्राह्मणों का तेज अब

कितने दिनों तक ठहरेगा ?" अब वह अपनी जलानेवाली गुप्त शक्ति का पूरे तौर से अनुभव करने लगा।

काका साहब ने कहा—महाशय, आपने ठीक कहा है। जो गायें आजकल मरती हैं उन्होंने मनुष्य-योनि में आकर जन्म लेना शुरू किया है। तब, उनके पास से घी मिलने की आशा कैसे की जाय ? इसी से किसी के दिमाग़ में ताक़त नहीं। आप कहाँ से पधारे हैं ?

रघुपति —त्रिपुरा राजधानी से।

विजयगढ़ के अतिरिक्त हिन्दुस्तान के भूगोल अथवा इतिहास के सम्बन्ध की बातें काका साहब को थोड़ी ही मालूम थीं। विजयगढ़ के सिवा हिन्दुस्तान में और कुछ बातें जानने योग्य हैं, उस पर भी उनको विश्वास नहीं। बिलकुल अनुमान के भरोसे पर बोले—अहा, त्रिपुरा के राजा तो बहुत बड़े हैं।

रघुपति ने उसका पूर्ण रूप से अनुमोदन किया।

काका साहब—वहाँ आप क्या करते हैं ?

रघुपति—मैं त्रिपुरा का राजपुरोहित हूँ।

काका साहब आँख मूँदकर और सिर हिलाकर बोले—"अहा !" रघुपति के ऊपर उनकी भक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। फिर पूछा—आप यहाँ किसलिए पधारे हैं ?

रघुपति—तीर्थ-यात्रा के लिए।

धम से आवाज़ हुई। शत्रुओं ने क़िले पर आक्रमण कर दिया। काका साहब ने हँसकर और आँखें दबाकर कहा—"कुछ नहीं, ढेले छोड़ रहे हैं।" विजयगढ़ के ऊपर काका साहब को जितना दृढ़ विश्वास था उतना मज़बूत विजयगढ़ का पत्थर नहीं था। जहाँ कोई परदेशी यात्री क़िले के भीतर आया वहाँ उसके ऊपर काका साहब अपना पूरा अधिकार जमा बैठते थे और विजयगढ़ की धाक उसके मन में जमा देते थे। त्रिपुरा राजधानी से रघुपति आये हैं। संसार में ऐसा अतिथि मिलना कठिन है। इसी से काका साहब मारे ख़ुशी के फूले नहीं समाते। रघुपति के साथ वे विजयगढ़ के प्राचीन-कालिक सार-विषयों पर समालोचना करने लगे। उन्होंने कहा—"ब्रह्मा का कोष और विजयगढ़ का क़िला दोनों प्रायः एक ही समय में उत्पन्न हुए हैं। और, मनु महाराज के बाद से ही महाराज विक्रमसिंह के पूर्वपुरुष इस क़िले का उपभोग करते आते हैं, इस विषय में सन्देह हो ही नहीं सकता।" इस क़िले को महादेव का क्या वर है और इस क़िले में सहस्रार्जुन किस तरह क़ैद हुए थे, ये बातें भी रघुपति के आगे छिपी न रहीं।

शाम के वक़्त ख़बर आई कि शत्रुदल क़िले को कुछ हानि नहीं कर सका। उन लोगों ने तोपें लगाई थीं, पर तोपों के गोले क़िले तक नहीं पहुँच सके। काका साहब ने हँसकर रघुपति की ओर देखा। अभिप्राय यही था कि क़िले के प्रति जो शिवजी का अक्षय वर है, उसका ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण

और क्या हो सकता है ? जान पड़ता है, नन्दी स्वयं आकर तोप के गोले रोकते गये हैं। उन गोलों से कैलास पर गणेश और कार्त्तिकेय गोली खेलेंगे।

बाईसवाँ परिच्छेद

शाहशुजा को किसी तरह क़िला हस्तगत करा देना ही रघुपति का अभिप्राय था। उसने जब सुना कि शुजा क़िला दखल करने के लिए मुस्तैद है, तब मन में सोचा कि मित्र-भाव से क़िले के भीतर प्रवेश करके किस प्रकार हम शुजा को क़िले के आक्रमण में सहायता पहुँचावेंगे। किन्तु ब्राह्मण बेचारा लड़ाई का हाल क्या जाने। क्या करने से शुजा की सहायता हो सकती है, इसका वह निरूपण न कर सका।

दूसरे दिन फिर लड़ाई शुरू हुई। शत्रु की सेना ने बारूद के द्वारा क़िले की दीवार का कुछ हिस्सा उड़ा दिया, किन्तु ऊपर से लगातार गोले बरसने के कारण वे लोग क़िले के भीतर न जासके। टूटा अंश बात की बात में जोड़ कर पूरा कर दिया गया। आज इधर-उधर क़िले के भीतर गोले आ-आकर गिरने लगे। क़िले के सैनिकों में से दो-चार हताहत भी हुए।

"महाशय, कुछ डर नहीं; यह केवल कुतूहल-मात्र है।" यह कहकर काका साहब रघुपति को साथ लेकर क़िले के चारों ओर दिखलाने लगे। कहाँ अस्त्र रक्खे जाते हैं, कहाँ

भण्डार है, कहाँ घायल सेना की दवा होती है, कहाँ क़ैदख़ाना है और कहाँ दरबार होता है, ये सब स्थान वे तमक-तमककर दिखलाने और बार-बार रघुपति के मुँह की ओर देखने लगे।

रघुपति ने कहा—वाह साहब, यहाँ के कारख़ाने तो प्रशंसा के योग्य हैं। त्रिपुरा का क़िला इसकी बराबरी नहीं कर सकता, किन्तु त्रिपुरा के क़िले में छिपकर भागने के लिए एक बड़ा ही विचित्र सुरङ्ग का रास्ता है, इस क़िले में तो वैसा कोई रास्ता नहीं देख पड़ता।

काका साहब कुछ बोलना चाहते थे, परन्तु एकाएक अपने को सँभालकर बोले—नहीं, इस क़िले में वैसा कोई रास्ता नहीं है।

रघुपति ने बड़ा ही आश्चर्य प्रकट करके कहा—इतने बड़े क़िले में एक भी सुरङ्ग नहीं!

काका साहब कुछ ठिठककर बोले—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। सुरङ्ग ज़रूर होगी। यह दूसरी बात है कि हमें मालूम न हो।

रघुपति ने हँसकर कहा—तब तो नहीं के बराबर ही है। जब आपको ही मालूम नहीं तब और किसको मालूम होगा?

काका साहब ने कुछ देर तक तो बड़ा गम्भीर भाव धारण किया, पर कुछ देर के बाद हरे राम-राम कह कर चुटकी बजाते हुए जँभाई ली। तदनन्तर डाढ़ी और मूँछों पर दो-एक बार हाथ फेरकर एकाएक बोले—महाशय, आप पूजापाठ कर लीजिए। आपको बताने में कोई हर्ज नहीं। क़िले के

भीतर आने और जाने के दो गुप्त मार्ग हैं; किन्तु उन्हें बाहर के लोगों को दिखलाने की मनाही है।

रघुपति ने कुछ सन्देह के स्वर से कहा—हाँ, होगा।

काका साहब ने देखा कि यह हमारा ही दोष है। एक बार "नहीं है" और एक बार "है" कहने से स्वभावतः लोगों को संदेह हो सकता है। एक विदेशी की दृष्टि में त्रिपुरागढ़ के मुक़ाबले में विजयगढ़ का क़िला किसी अंश में न्यून हो जाय यह काका साहब को सह्य नहीं था। उन्होंने कहा—महाशय, मैं जानता हूँ कि आपका त्रिपुरा यहां से बहुत दूर है और आप ब्राह्मण हैं। पूजा-पाठ करना ही आपका एक-मात्र कार्य है। आपके द्वारा इन बातों के प्रकट होने की कोई आशङ्का नहीं।

रघुपति ने कहा—साहब, मुझको इससे क्या प्रयोजन? यदि आपको संशय हो तो उन बातों को रहने दीजिए। मैं ब्राह्मण का बालक हूँ। मुझको क़िले की बातों से क्या मतलब?

काका साहब दाँतों में जीभ दबाकर बोले—अरे राम! राम! आपसे सन्देह किस बात का! चलिए, आपको एक बार दिखला दें।

इधर क़िले के बाहर शुजा की सेना में एकाएक हल्ला मच गया। जङ्गल के भीतर शुजा का खेमा था। सुलेमान और जयसिंह की सेना ने आकर एकाएक उनको गिरफ़्तार कर लिया। फिर वह सेना छिपे तौर से क़िले के ऊपर चढ़ाई

करनेवाली शुजा की फ़ौज पर टूट पड़ी। शुजा की सेना बिना युद्ध किये ही बीस तोपें छोड़कर भाग गई।

क़िले के भीतर धूमधाम होने लगी। विक्रमसिंह के पास ज्योंही सुलेमान का दूत पहुँचा त्योंही उन्होंने क़िले का फाटक खोल दिया। वे स्वयं जाकर सुलेमान और राजा जयसिंह को आगे से ले आये। दिल्ली के बादशाह की सेना और हाथी-घोड़ों से क़िला भर गया। विजय-पताका फ़हराने लगी। शङ्ख और जीत के बाजे बजने लगे।

काका साहब की सफ़ेद मूँछों के नीचे स्वच्छ हँसी पूर्ण रूप के विकसित हो उठी।

तेईसवाँ परिच्छेद

काका साहब के लिए आज बड़े ही आनन्द का दिन है। आज दिल्लीपति के राजपूत सैनिक विजयगढ़ के पाहुने हुए हैं। परम प्रतापी शाहशुजा आज विजयगढ़ के क़ैदी बने हैं। सहस्रार्जुन के बाद विज्य गढ़ को ऐसा क़ैदी न मिला था। सहस्रार्जुन की बन्धन-दशा याद कर और लम्बी साँस ले करके काका साहब ने सुचेतसिंह राजपूत से कहा—ध्यान देकर देखो, हज़ार हाथों में हथकड़ी पहनाते वक्त कितना आयोजन करना पड़ा होगा। कलियुग का उदय होने से अब धूम-धाम नाम-मात्र की रह गई है। राजा के बेटे ही क्यों न हों, दो

हाथों से अधिक हाथवाले लोग ढूँढ़ने से भी कहीं नहीं मिलते। दो हाथों को बाँधने में क्या कुछ सुख नहीं? कुछ विनोद नहीं?

सुचेतसिंह ने हँसकर और अपने हाथों की ओर देखकर कहा—ये दोनों हाथ ही यथेष्ट हैं।

काका साहब कुछ सोचकर बोले—हाँ, यह ठीक है। उस ज़माने में काम बहुत था। इस ज़माने में काम इतना कम हो गया है कि इन दोनों हाथों की ही कुछ कैफियत देते नहीं बनती। अधिक हाथ होने से और भी मँछों पर ताव देता।

आज काका साहब के वेष-विन्यास में कोई कमी न थी। डाढ़ी के पके हुये बालों को ठुड्डी के नीचे से दो हिस्सों में बाँट-कर दोनों कानों में लपेट लिया है। मूँछों को ऐंठकर दोनों ओर कान के पास तक पहुँचा दिया है। सिर पर टेढ़ी पगड़ी है। कमर में टेढ़ी तलवार लटक रही है। कामदार जूते की नोक ऐंठी हुई, सींग की तरह, टेढ़ी होकर ऊपर को उठी हुई है। आज काका साहब के चलने का ढङ्ग ऐसा जान पड़ता है जैसे विजयगढ़ का महत्व उन्हीं के सर्वाङ्ग में लहरा रहा है। आज इन समझदार लोगों के निकट विजय-गढ़ की महिमा प्रमाणित हो जायगी। इस ख़ुशी के मारे उनको न खाने की सुधि है न सोने की।

सुचेतसिंह को साथ लेकर उन्होंने प्रायः दिन भर क़िले की देख-भाल की। जिस जगह सुचेतसिंह किसी प्रकार का

आश्चर्य प्रकट नहीं करते थे उस जगह काका साहब स्वयं वाह, वाह कहकर अपनी उमङ्ग राजपूत वीर के हृदय में सञ्चारित करने की कोशिश करते थे। विशेष करके उन्हें क़िले की दीवार के गठन के सम्बन्ध में अधिकतर श्रम करना पड़ा। जिस तरह क़िले की दीवार खड़ी है, उससे भी अधिक स्थिर भाव से सुचेतसिंह खड़े हैं। उनके चेहरे पर किसी प्रकार का भाव प्रकट नहीं। काका साहब घूम-फिरकर उन्हें एक बार दीवार की बाईं ओर, एक बार दाहनी ओर, एक बार ऊपर और एक बार नीचे लाने-ले जाने लगे और बार-बार कहने लगे—"क्या कहना है।" परन्तु वे सुचेतसिंह के हृदयरूपी दृढ़ क़िले पर कुछ भी अधिकार न कर सके। आख़िर सन्ध्या समय थककर सुचेतसिंह बोल उठे—मैंने भरतपुर का क़िला देखा है, वैसा दूसरा दिखाई नहीं देता।

काका साहब किसी के साथ विवाद नहीं करते। वे बहुत उदास होकर बोले—ज़रूर, ज़रूर, यह बात ठीक ही कहते हो।

उन्होंने लम्बी साँस लेकर क़िले के सम्बन्ध में बातें करना छोड़ दिया। विक्रमसिंह के पूर्व पुरुष दुर्गासिंह की बात छेड़ी। उन्होंने कहा—दुर्गासिंह के तीन बेटे थे। उनके सबसे छोटे बेटे चित्रसिंह को एक विचित्र अभ्यास था। वे प्रतिदिन अन्दाज़न आध सेर छुहारा दूध में औटाकर खाते थे। उनका शरीर भी वैसा ही बलिष्ठ था। अच्छा, तुम जो भरतपुर के क़िले की बात कहते हो सो वह बहुत

बड़ा ज़रूर होगा, लेकिन ब्रह्मवैवर्तपुराण में तो उसकी कहीं चर्चा नहीं है।

सुचेतसिंह ने हँसकर कहा—वैसा न होने से काम में कोई बाधा नहीं होती।

काका साहब हँसकर बोले—हा हा हा, सो ठीक है, सो ठीक है। तुम क्या जानते हो, त्रिपुरा का क़िला भी कुछ साधारण किला नहीं। लेकिन विजयगढ़ की तुलना में......

सुचेतसिंह—त्रिपुरा किस प्रदेश में है ?

काका साहब—वह बहुत बड़ा देश है। इतनी बातों का प्रयोजन क्या ? वहाँ के राजपुरोहित अतिथि-रूप से हमारे क़िले में आकर ठहरे हैं। उनके मुँह से तुम सब सुन लेना।

परन्तु आज वे ब्राह्मण ढूँढ़ने से भी कहीं न मिले। काका साहब का दिल उनके लिए रोने लगा। वे मन ही मन कहने लगे—"इन देहाती राजपूतों की अपेक्षा वह ब्राह्मण कहीं अच्छा था।" वे सुचेतसिंह के निकट सैकड़ों मुँह से रघुपति की प्रशंसा करने लगे तथा विजयगढ़ के विषय में रघुपति की क्या राय थी, उसे भी उन्होंने प्रकट किया।

चौबीसवाँ परिच्छेद

काका साहब के हाथ से छूटकर सुचेतसिंह को और कोई मिहनत उठानी नहीं पड़ी। कल सबेरे क़ैदी (शुजा)

के साथ बादशाही फ़ौजों के जाने का दिन नियत हुआ है। सेनाएँ यात्रा का सामान ठीक करने लगीं। क़ैदख़ाने में शाह-शुजा पूरे तौर से नाराज़ होकर मन ही मन कह रहे हैं—ये लोग कैसे बे-अदब हैं। ख़ेमे से मेरी गुड़गुड़ी ला देने की ओर भी इनका ध्यान न गया।

विजयगढ़ के पहाड़ के नीचे एक गहरा नाला है। उसी नाले की धार में एक जगह बिजली का जला एक पीपल का तना खड़ा है। उसी तने के पास गहरी रात में रघुपति ग़ोता लगाकर ग़ायब हो गया।

गुप्त रीति से क़िले में घुसने के लिए जो सुरङ्ग का रास्ता है, उसका प्रवेश-द्वार इस नाले की गहरी तलहटी में ही है। उस रास्ते में जाकर, सुरङ्ग की अन्तिम जगह पहुँच कर, नीचे से ज़ोर से धक्का लगाने के साथ ही एक पत्थर का तख़्ता ऊपर उठ जाता है। किन्तु ऊपर से कोई तख़्ता उठाना चाहे तो वह किसी तरह उठाया नहीं जा सकता। इसी से, जो लोग क़िले के भीतर हैं वे उस मार्ग से बाहर नहीं जा सकते। शुजा कारागार में पलँग के ऊपर सोये हैं। पलँग के सिवा घर में और कोई बिस्तर नहीं है। एक चिराग़ बल रहा है। एका-एक घर में सुरङ्ग का मुँह खुल गया। रघुपति धीरे-धीरे सिर उठाकर नीचे से ऊपर आया। उसका शरीर भीगा हुआ है। उसके गीले कपड़े से चू-चूकर पानी बहा जा रहा है। रघुपति ने धीरे से शुजा की देह पर हाथ रक्खा। शुजा

चौंककर और आँखें मलकर कुछ देर बैठे रहे, फिर अलसाये हुए स्वर में बोले—क्या बखेड़ा है ? ये लोग क्या मुझको रात में भी न सोने देंगे ! तुम लोगों के व्यवहार से मैं अचम्भे में हूँ !

रघुपति ने नरमी से कहा—शाहज़ादा साहब, चलिए, मैं वही ब्राह्मण हूँ। याद करके मुझे देखिए। भविष्य में भी मेरी याद रखिएगा।

दूसरे दिन सुबह बादशाही फ़ौज जाने को तैयार हुई। शुजा का नींद से जगाने के लिए राजा जयसिंह स्वयं क़ैदख़ाने में गये। देखा कि शुजा तब भी बिछौने से नहीं उठे हैं। पास जाकर स्पर्श किया—शुजा नहीं हैं, उनके कपड़े पड़े हैं। शुजा का पता नहीं। घर के बीच में सुरङ्ग का मुँह खुला हुआ है। उसका पत्थर का ढकना अलग पड़ा है।

क़ैदी के भागने की बात क़िले में फैल गई। खोजने के लिए चारों ओर लोग दौड़े। राजा विक्रमसिंह का सिर नीचा हो गया। क़ैदी किस प्रकार भागा, उसके विचारार्थ एक दरबार हुआ।

काका साहब की वह आनन्द-सहित गरबीली चाल न जाने कहाँ चली गई। वे पागल की तरह, "ब्राह्मण कहाँ है ब्राह्मण कहाँ है" कह कर चारों ओर ढूँढ़ते फिरते हैं। किन्तु ब्राह्मण का कहीं पता नहीं।

काका साहब माथे पर से पगड़ी उतारकर कुछ देर तक

माथे पर हाथ रक्खे बैठे रहे। सुचेतसिंह ने पास आकर कहा—काका साहब, कैसी विचित्र घटना है! ये सब भूत के काम तो नहीं है ?

काका साहब उदासीन भाव से गर्दन हिलाकर बोले—नहीं सुचेतसिंह, यह भूत का काम नहीं है। यह एक अत्यन्त बुद्धिहीन बूढ़े का और एक विश्वासघाती पामर का काम है।

सुचेतसिंह ने विस्मित होकर कहा—यदि तुम उसको जानते हो तो पकड़वा क्यों नहीं देते ?

काका साहब ने कहा—उनमें एक तो भाग गया है और एक को गिरफ़तार कर राज-दर्बार में लिये जाता हूँ।

अब पगड़ी पहनकर उन्होंने दरबारी कपड़े पहन लिये।

उस समय दरबार में पहरेदारों का इज़हार लिया जा रहा था। काका साहब सिर झुकाये दरबार में हाज़िर हुए। वे विक्रमसिंह के पैरों के पास तलवार रखकर बोले—महाराज़, मुझको क़ैद करने का हुक्म दिया जाय। अपराधी मैं हूँ।

राजा ने विस्मित होकर कहा—काका साहब, क्या मामला है ?

काका साहब—ब्राह्मण ! यह सारा काम उसी बङ्गाली ब्राह्मण का है।

राजा जयसिंह ने पूछा—तुम कौन हो ?

काका साहब—मैं विजयगढ़ का बूढ़ा काका साहब हूँ।

जयसिंह—तुमने क्या किया है ?

काका साहब—मैंने विजयगढ़ की मैत्री भङ्ग कर विश्वास-घाती का काम किया है। मैंने निपट मूर्ख की तरह विश्वास करके एक बङ्गाली ब्राह्मण से सुरङ्ग के रास्ते की बात कह दी थी।

विक्रमसिंह एकाएक जलकर बोल उठे—खड्गसिंह।

काका साहब चौंक पड़े। वे प्रायः भूल गये थे कि हमारा नाम खड्गसिंह है।

विक्रमसिंह ने कहा—खड्गसिंह, इतनी उम्र में आकर क्या तुम फिर लड़के बन गये!

काका साहब सिर नोचा करके चुप हो रहे।

विक्रमसिंह ने कहा—काका साहब, तुम ने यह काम किया। तुम्हारे हाथ से आज विजयगढ़ की अप्रतिष्ठा हुई।

काका साहब चुप खड़े रहे। उनके हाथ थर-थर काँपने लगे। उन्होंने काँपते हुए हाथों से माथा छूकर मन ही मन कहा—अदृष्ट।

विक्रमसिंह—मेरे क़िले से बादशाह का विरोधी क्या निकल भागा, दिल्लीश्वर के निकट तुमने मुझको अपराधी बना दिया।

काका साहब—अपराधी तो एक-मात्र मैं हूँ। महाराज अपराधी हैं, इस बात का विश्वास बादशाह न करेंगे।

विक्रमसिंह ने क्रुद्ध होकर कहा—तुम कौन हो? तुम्हारी ख़बर बादशाह को कहाँ है? तुम तो मेरे ही आदमी हो।

यह तो ऐसा ही हुआ मानो मैंने अपने हाथ से क़ैदी का बन्धन खोल दिया हो।

काका साहब ला-जवाब हो रहे। वे अब अपनी आँखों के आँसू न सँभाल सके।

विक्रमसिंह ने कहा—तुम्हें क्या सज़ा दूँ?

काका साहब—महाराज की जो इच्छा हो।

विक्रमसिंह—तुम बूढ़े हुए। तुमको और अधिक दण्ड क्या दूँ? विजयगढ़ से बाहर निकल जाना ही तुम्हारे लिए काफ़ी सज़ा होगी।

काका साहब ने विक्रमसिंह के पाँव पकड़कर प्रार्थना की—विजयगढ़ से निर्वासन! नहीं महाराज, मैं बूढ़ा आदमी, मेरी अक़्ल ठिकाने न रही। मुझे विजयगढ़ की मिट्टी में ही मिलने दीजिए। फाँसी की आज्ञा दे दीजिए। इस बुढ़ापे में गीदड़ और कुत्ते की भाँति विजयगढ़ से मुझे न निकालिए।

राजा जयसिंह ने कहा—महाराज, मेरे अनुरोध से आप इसका अपराध क्षमा करें। मैं बादशाह को यहाँ की सभी बातें सूचित कर दूँगा।

काका साहब को माफ़ी मिली। दरबार से बाहर आते समय काका साहब काँपकर गिर पड़े। उस दिन से वे अधिक दिखाई नहीं देते। वे घर से बाहर नहीं निकलते। मानो उनकी रीढ़ की हड्डी टूट गई हो।

पचीसवाँ परिच्छेद

गुजुरपाड़ा ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे एक छोटा सा गाँव है। वहाँ के एक छोटे ज़िमींदार हैं पीताम्बर राय। बस्ती में लोग अधिक नहीं हैं। पीताम्बर अपने पुराने देवीगृह में बैठकर अपने को राजा कहला रहे हैं। उनकी प्रजा भी उन्हें राजा कहती है। उनकी राज-महिमा आम और पीलू के जङ्गलों से घिरे हुए इस छोटे गाँव के भीतर ही विराजमान है। उनका यश इस गाँव के जङ्गलों में गूँजता हुआ इस गाँव के प्रान्त में ही विलीन हो जाता है। संसार के बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का प्रखर प्रताप इस छोटे से छायामय घोंसले में नहीं आ सकता। केवल नदी के किनारे, तीर्थ-स्नान के उद्देश से, त्रिपुरा के राजा का एक बड़ा कोठा है। इधर बहुत दिनों से राजाओं का कोई मनुष्य स्नान करने नहीं आया। जो हो, त्रिपुरा के राजा के सम्बन्ध में ग्रामवासियों में अप्रकट रूप से एक दन्तकथा प्रचलित है। एक दिन भादों के महीने में गाँव में ख़बर पहुँची कि त्रिपुरा के एक राजकुमार नदी के किनारेवाले पुराने मकान में रहने के लिए आ रहे हैं। कुछ दिन के बाद बड़ी-बड़ी पगड़ी बाँधे लोगों ने आकर उस मकान में धूम मचा दी। उसके कोई एक सप्ताह बाद हाथी, घोड़े, लोग, लशकरों को लिये नक्षत्रराय गुजुरपाड़ा गाँव में आ पहुँचे।

उनका ठाट-बाट देखकर गाँव वालों के मुँह से कोई शब्द न निकला। इतने दिनों तक वे पीताम्बर को ही बड़ा राजा मानते थे किन्तु आज वह बात किसी के मन में स्थिर नहीं रही। नक्षत्रराय को देखकर सभी एक-स्वर से बोले—हाँ, राजकुमार ऐसे ही होते हैं।

यद्यपि नक्षत्रराय को देखकर और उनके तेज के सामने, पीताम्बर और उसका सुशोभित पक्का दालान एवं देवी-गृह तक सब फीके पड़ गये तथापि उनके आनन्द की सीमा न रही। नक्षत्रराय को पीताम्बर ने इतना बड़ा राजा माना कि अपनी छोटी सी राजमर्यादा को नक्षत्रराय के चरणों में अर्पित करके वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। नक्षत्रराय जब कभी हाथी पर चढ़कर निकलते हैं तब पीताम्बर अपनी प्रजा को पुकारकर कहते हैं—"तुम लोगों ने राजा देखा है? देख लो यह है राजा।" पीताम्बर प्रतिदिन कितनी ही खाने की चीज़ें उपहार में लेकर नक्षत्रराय को देख आते हैं। नक्षत्रराय का नया ख़ूबसूरत चेहरा देखकर पीताम्बर के हृदय में प्रेम उमड़ आता है। नक्षत्रराय ही गाँव के राजा बन गये। पीताम्बर प्रजा की श्रेणी में जा मिले।

दिन में तीन बार नौबत बजने लगी। गाँव के रास्ते में हाथी-घोड़े चलने लगे। ड्योढ़ी पर पहरेदारों के हाथ में नङ्गी तलवार बिजली की तरह चमकने लगी। हाट-बाज़ार बस गया। पीताम्बर और उनकी प्रजा सभी ख़ुशी के मारे

प्रफुल्लित हो उठे। नक्षत्रराय इस देश-निकाले की सज़ा में राजा होकर सारा दुख भूल गये। यहाँ उनके ऊपर राजत्व का भार कुछ भी नहीं है किन्तु राजकीय सुख सभी कुछ है। यहाँ वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं। अपने देश में उनका इतना रोब-दाब नहीं था। इसके सिवा, इस जगह रघुपति की छाया तक नहीं। नक्षत्रराय उल्लसित-मन से भोग-विलास में निमग्न हो गये। ढाका शहर से नर्तकी और नर्तक आये। नक्षत्र-राय को नाच गान और वाद्यों में ज़रा भी अरुचि न थी।

नक्षत्रराय ने त्रिपुरा-राज का सारा अनुकरण किया। नौकरों में किसी को मन्त्री बनाया, किसी को सेनापति नियत किया। पीताम्बर दीवान जी कहलाये जाने लगे। क़ायदे के साथ राजदरबार होने लगा। नक्षत्रराय बड़े ठाट से न्याय करने बैठते हैं। नकुल ने आकर नालिश की—मथुरा ने मुझको कुत्ता कहा है। उसका विधिपूर्वक विचार हुआ। कुल सुबूत इकट्ठे होने ही के बाद मथुरा अपराधी सिद्ध हुआ। नक्षत्रराय ने गम्भीर भाव से हुक्म दिया—"नकुल मथुरा के कान मल दे।" इस प्रकार नक्षत्रराय सुख से समय बिताने लगे। किसी-किसी दिन जब कोई काम हाथ में न आता था तब दिल-बहलाव के लिए कोई अस्वाभाविक नये तमाशे आविष्कार करने के हेतु मन्त्री की पुकार होती थी। राज-सभासदों को एकत्र कर मन्त्री बड़ी व्यग्रता के सा तमाशा ढूँढ़ निकालने के लिए उद्यत होते थे। अगाध चिन्ता

और विचार का अन्त न रहता था। एक दिन कुछ सिपाहियों को लेकर पीताम्बर के देवी-गृह पर आक्रमण किया गया। और उनके तालाब से मछली, तथा बाग़ से कच्चे नारियल के फल और पालक का साग लूट की सामग्री के रूप में बड़ी धूमधाम के साथ बाजे बजवाते हुए ड्योढ़ी पर लाया गया। इस प्रकार के खेलों से नक्षत्रराय के ऊपर पीताम्बर का स्नेह और भी बढ़ गया।

आज राज-भवन में बिल्ली का विवाह है। नक्षत्रराय के पास एक छोटी सी बिल्ली थी। उसके साथ मण्डल के बिलाव का विवाह होगा। चूड़ामणि घटक को इस जोड़ी के मिलाने का तीन सौ रुपये और एक शाल पुरस्कार मिला है। हल्दी तेल आदि चढ़ाने की सभी रीति-रस्म हुई। आज सन्ध्या-समय शुभ मुहूर्त्त में ब्याह होगा। इस महोत्सव के कारण कई दिनों से राज-भवन में किसी को दम लेने की फुरसत नहीं। शाम के वक़्त सड़कों पर रोशनी की गई। नौबतख़ाने में बाजे बजने लगे। मण्डल बाबू के घर से मियाने में बैठकर, कमख़ाब की पोशाक पहने, दुलहा अत्यन्त अधीर स्वर में म्याऊँ-म्याऊँ करता चला। मण्डल बाबू के घर का एक छोटा लड़का शहबाला की तरह उसके गले की डोरी पकड़े उसके साथ-साथ आ रहा है। स्वस्तिवाचन और शङ्खध्वनि-सहित वर मण्डप में लाया गया। पुरोहित का नाम था केनाराम, परन्तु नक्षत्रराय ने उसका नाम रक्खा था रघुपति।

नक्षत्रराय असली रघुपति से डरते थे इसी से नक़ली रघुपति के साथ हँसी-ठट्ठा करके .खुश होते थे। इतना ही नहीं, बल्कि बात-बात में उसकी दुर्दशा भी करते थे। बेचारा केनाराम सब कुछ सह लेता था। दैव-दुर्विपाक से आज केनाराम दरबार में हाज़िर न था। उसका लड़का ज्वर के मारे मरा जा रहा है। नक्षत्रराय ने घबराहट के स्वर में पूछा—रघुपति कहाँ है? नौकर ने कहा—उनके घर कोई बीमार है। नक्षत्रराय ने कड़ककर कहा—बुलाओ उसको। लोग दौड़ पड़े। उस वक़्त खूब ज़ोर से रोती हुई बिल्ली के सामने नाच-गान होने लगा। नक्षत्रराय ने कहा—सहाना गाओ। सहाना गान आरम्भ हुआ। कुछ देरी के बाद नौकर ने आकर निवेदन किया—रघुपति आ गये। नक्षत्रराय ने क्रोध में भर कर कहा—बुलाओ। पुरोहितजी ने तुरन्त घर में प्रवेश किया। उसको देखते ही नक्षत्रराय की चढ़ी हुई भौंहें उतर गईं। उनका भाव बिलकुल बदल गया। चेहरा उतर गया। पेशानी पर पसीना देख पड़ा। सहाना और सारङ्गी तबला आदि सभी बाजे एकाएक बन्द हो गये। उस सूने घर में केवल बिल्ली का म्याऊँ-म्याऊँ शब्द भर गया।

हाँ, है तो यह रघुपति ही, इसमें कोई सन्देह नहीं। लम्बे, दुबले, तेजस्वी रघुपति की, बहुत दिनों के भूखे कुत्ते की तरह, आँखें बल रही हैं। वह धूल से भरे हुए दोनों पैर

कमख़ाब की मसनद पर रखकर और सिर ऊँचा करके खड़ा हो गया।

उसने कहा—नक्षत्रराय ! नक्षत्रराय कुछ न बोले। रघुपति ने कहा—तुमने रघुपति को बुलाया है। मैं आ गया। नक्षत्रराय ने दबी आवाज़ में कहा—हाँ। रघुपति ने कहा—उठो, इधर आओ। नक्षत्रराय धीरे-धीरे महफ़िल से उठ गये! बिल्ली का ब्याह, सहाना तथा सारङ्गी सब एक-दम बन्द हो गये।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

रघुपति ने पूछा—यह क्या होता था ?

नक्षत्रराय ने सिर खुजाकर कहा—नाच।

रघुपति घृणा के साथ नाक सिकोड़कर बोला—छिः-छिः।

नक्षत्रराय अपराधी की तरह खड़े रहे।

रघुपति ने कहा—कल यहाँ से चलना होगा। तैयारी करो।

नक्षत्रराय ने पूछा—कहाँ जाना होगा ?

रघुपति—यह फिर बताऊँगा, अभी यहाँ से मेरे साथ चले चलो।

नक्षत्रराय—मैं यहाँ अच्छी तरह हूँ।

रघुपति—"अच्छी तरह हूँ!" तुम राजवंश में उत्पन्न हुए हो। तुम्हारे सभी पुरुषा लोग राज्य करते आये हैं। आज तुम इस जङ्गली गाँव में शृगालों के राजा बने बैठे हो, तिस पर भी कह रहे हो—अच्छी तरह हूँ।

रघुपति ने कड़वी बातों और तीक्ष्ण कटाक्ष-पात से सिद्ध कर दिया कि नक्षत्रराय अच्छी दशा में नहीं हैं। नक्षत्रराय ने भी रघुपति के मुँह के तेज से अभिभूत होकर बहुत कुछ वैसा ही समझा। उन्होंने कहा—अच्छी तरह क्या, किसी तरह दिन बिता रहा हूँ। फिर करूँ क्या; उपाय ही क्या है?

रघुपति—उपाय बहुत हैं। उपायों की कमी नहीं। मैं तुम्हें उपाय बतला दूँगा। तुम मेरे साथ चलो।

नक्षत्रराय—दीवानजी से एक बार पूछ लूँ?

रघुपति—नहीं।

नक्षत्रराय—और मेरा यह सब माल-असबाब?

रघुपति—इसकी कोई ज़रूरत नहीं।

नक्षत्रराय—नौकर?

रघुपति—कुछ ज़रूरत नहीं।

नक्षत्रराय—मेरे हाथ में अभी काफ़ी रुपये नहीं हैं।

रघुपति—मेरे पास हैं। अब बहुत सोच-विचार न करो। अभी सोने को जाओ। कल सबेरे ही रवाना होना है।

बस, उत्तर की अपेक्षा किये बिना ही रघुपति चला गया

सुबह नक्षत्रराय जागे। बन्दीगण (भाट) सुन्दर रागिनी में मधुर गीत अलाप रहे। नक्षत्रराय ने बाहर के कमरे में आकर खिड़की में झाँककर देखा। पूर्व की ओर सूर्योदय हो रहा है। लाल-लाल लकीरें दिखाई दे रही हैं।

उभय-तटवर्ती सघन वृक्षों के बीच होकर, छोटे छोटे निःशब्द गाँवों के घरों के पास से, ब्रह्मपुत्र नदी अपनी विपुल जलधारा को लेकर निरन्तर बह रही है। कोठे में झरोखे से नदी के किनारे का एक छोटा घर दिखाई पड़ता है। एक औरत आँगन में झाड़ू दे रही है। एक मर्द उसके साथ दो-एक बातें करके, माथे में चादर लपेट, एक बाँस की लम्बी लाठी के आगे की ओर पोटली बाँधकर स्वस्थ चित्त से कहीं बाहर चला गया। श्यामा और दाहियल पक्षी सीटी भर रहे हैं। हरदा एक पेड़ के घने पत्तों में बैठकर गा रहा है। झरोखे के पास खड़े होकर और बाहर की ओर देखकर नक्षत्रराय ने ठण्डी साँस ली। इसी समय रघुपति ने पीछे से आकर नक्षत्रराय को स्पर्श किया। वे चौंक उठे।

रघुपति ने कोमलता-सहित मध्यम स्वर में पूछा—यात्रा का सब समान ठीक है?

नक्षत्रराय हाथ जोड़कर बड़ी अधीरता से बोले—महाशय, मुझे क्षमा कीजिए। मैं यहाँ से कहीं जाना नहीं चाहता। मैं इस जगह आराम से हूँ।

रघुपति ने कुछ न कहकर नक्षत्रराय के चेहरे की ओर अपनी अङ्गारवत् दृष्टि स्थापित की।

नक्षत्रराय ने आँखें नीची करके पूछा—कहाँ जाना होगा?

रघुपति—अभी नहीं कह सकता।

नक्षत्र—भाई के विरुद्ध मैं कोई काम न कर सकूँगा।

रघुपति मारे क्रोध के जलकर बोला—भाई ने तुम्हारा कौन सा उपकार किया है ? कहो तो ज़रा मैं भी सुनूँ।

नक्षत्रराय ने मुँह फेरकर और झरोखे पर लकीर खींच कर कहा—मैं जानता हूँ, वे मुझ पर प्रेम रखते हैं।

रघुपति ने उत्कट सूखी हँसी हँसकर कहा—हरे! हरे! बड़ा भारी प्रेम। मैं सब समझता हूँ। ध्रुव को बे-खटके उत्तराधिकारी बनाने के लिए भाई ने मिथ्या लाञ्छन लगाकर तुम्हें राज्य से निकाल दिया है। अहा, राज्य के गुरुतर भार से मक्खन का पुतला सदृश कोमल भाई कहीं दुखी न हो जाय! अब उस राज्य में क्या सहज ही प्रवेश कर सकोगे ? मूर्ख!

नक्षत्रराय ने तुरन्त कहा—क्या मैं इतनी साधारण बात भी नहीं समझता ? मैं सब समझता हूँ। लेकिन समझ-कर ही क्या करूँगा! उपाय ही क्या है ?

रघुपति—उसी उपाय की बात हो रही है। उसी के लिए मैं आया हूँ। इच्छा हो तो मेरे साथ चले चलो, नहीं तो इस बाँस के जङ्गल में बैठकर अपने शुभचिन्तक बाप-दादों का नाम जपा करो। मैं जाता हूँ।

अब रघुपति जाने लगा। नक्षत्रराय ने तुरन्त उसके पीछे-पीछे चलकर कहा—मैं भी चलूँगा। अगर दीवानजी जाना चाहें तो उनको अपने साथ ले जाने में क्या हर्ज है ?

रघुपति ने उत्तर दिया—सिवा मेरे और कोई तुम्हारे साथ न जायगा।

घर छोड़कर नक्षत्रराय का पाँव बाहर बढ़ना नहीं चाहता। विनोद की इन सामग्रियों को छोड़कर और दीवानजी को त्यागकर न मालूम रघुपति के साथ अकेले कहाँ जाना पड़ेगा! किन्तु रघुपति मानो उनकी चोटी पकड़कर खींचे लिये जा रहा है। इसके सिवा नक्षत्रराय के मन में डर के साथ ही साथ एक प्रकार का कुतूहल भी उत्पन्न होने लगा। कुतूहल का भी एक विचित्र खिचाव है।

नाव तैयार है। नदी के किनारे जाकर नक्षत्रराय ने देखा कि कन्धे पर अँगोछा डाले पीताम्बर स्नान करने आये हैं। पीताम्बर नक्षत्रराय को देखकर मुसकराते हुए बोले—जय हो महाराज! सुना है कि कल कहीं से एक दुष्ट मनहूस ब्राह्मण ने आकर हँसी-ख़ुशी के ब्याह में बाधा डाल दी।

नक्षत्रराय सहम गये। रघुपति ने स्थिर भाव से कहा—वह दुष्ट ब्राह्मण मैं ही हूँ।

पीताम्बर हँसकर बोले—आपके मुँह पर आपकी तारीफ़ करना भी तो ठीक नहीं। जान-बूझकर कौन बाप का बेटा ऐसा काम करता (अर्थात् मुँह पर किसी की कोई निन्दा नहीं करता)। आप बुरा न मानिएगा। परोक्ष में लोग क्या नहीं कहते हैं। जो सामने मुझे राजा कहता है वही परोक्ष में पितम्बरा कहता है। परोक्ष में कोई कुछ कहा करे, मुँह पर कुछ न कहने के समान ही हुआ। मैं तो यही समझता हूँ। सच पूछिए तो न मालूम आपका मुँह ऐसा

अधिक अप्रसन्न क्यों दिखाई देता है । किसी के मुँह का ऐसा भाव देखने से ही लोगों में उसकी शिकायत होने लगती है ।

महाराज, इतने सबेरे नदी-किनारे आने का क्या कारण ?

नक्षत्रराय ने कुछ करुण स्वर में कहा—दीवानजी, मैं अब जा रहा हूँ ।

पीताम्बर--जा रहे हैं ? कहाँ ? नृपाड़ा में, मण्डल बाबू के मकान पर ?

नक्षत्रराय--नहीं दीवानजी, मण्डल बाबू के मकान पर नहीं, बहुत दूर ।

पीताम्बर—बहुत दूर ? तो क्या पाइकघाट आखेट करने जाते हैं ?

नक्षत्रराय ने एक बार रघुपति के मुँह की ओर देखकर केवल खिन्न भाव से निषेधसूचक सिर हिलाया ।

रघुपति ने कहा—समय बीता जा रहा है । नाव पर चढ़िए ।

पीताम्बर ने बड़े ही सन्देह और क्रोध के साथ ब्राह्मण के मुँह की ओर देखा और कहा—बाबाजी, तुम कौन हो ? हमारे महाराज के ऊपर शासन करने आये हो ?

नक्षत्रराय ने व्यग्र होकर पीताम्बर को अपने पास खींच-कर कहा—ये हमारे गुरु हैं ।

पीताम्बर ने कहा—भले ही गुरु हों, वे हमारे देवोघर में जाकर रहें । मैं चावल, दूध, केले आदि का प्रबन्ध कर दूँगा । सम्मान-पूर्वक बने रहें ।

महाराज को वहाँ क्या काम है ?

रघुपति--समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है, तो मैं अब जाता हूँ।

पीताम्बर—आपकी ख़ुशी; देर करने का प्रयोजन क्या है। महाशय, आप झटपट पधारिए। महाराज को लेकर मैं ड्योढ़ी पर जाता हूँ।

नक्षत्रराय ने एक बार रघुपति के चेहरे की ओर देखकर कोमल स्वर में कहा—नहीं दीवानजी मैं जाता हूँ।

पीताम्बर—तो मैं भी चलता हूँ। नौकरों को साथ ले लीजिए। राजा की तरह चलिए। राजा जायँगे तो क्या साथ में दीवानजी न जायँगे ?

नक्षत्रराय ने केवल रघुपति के चेहरे की ओर देखा।

रघुपति ने कहा—कोई साथ में नहीं जायगा।

पीताम्बर उदास होकर नक्षत्रराय का हाथ पकड़कर बोले--देखो बाबू, मैं तुम्हें राजा तो कहा करता हूँ, किन्तु तुम्हें सन्तानवत् प्यार करता हूँ। मेरे कोई सन्तान नहीं। तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ज़ोर नहीं चल सकता। तुम जा रहे हो। मैं ज़बरदस्ती तुम्हें रोक भी नहीं सकता। किन्तु मेरा एक यही अनुरोध है कि कहीं क्यों न जाओ, पर मेरे मरने से पहले ही यहाँ लौट आना। मैं अपने हाथ से अपनी सारी सम्पत्ति तुम्हें सौंप दूँगा। बस, मेरा यही एक मनोरथ है।

नक्षत्रराय और रघुपति नाव पर चढ़े। नाव दक्खिन की ओर रवाना हुई। पीताम्बर स्नान करना भूल गये, अँगोछा

कन्धे पर रक्खे ही चिन्तित चित्त से घर लौट गये। गुजुर-पाड़ा मानो ख़ाली हो गया। उसका आनन्द-उत्सव सब समाप्त हो गया। केवल प्रकृति का नित्योत्सव प्रतिदिन के लिए रह गया। सवेरे चिड़ियों की चहचहाहट, पत्तों की खड़-खड़ाहट और नदी में तरङ्गरूपी करतलध्वनि का विश्राम नहीं!

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

सफ़र दूर का है। कहीं नदी है, कहीं घना जङ्गल है, कहीं सुनसान जङ्गल है। कभी नाव पर, कभी पैदल ही, कभी टट्टू पर, कभी धूप में, कभी वर्षा के पानी में, कभी शोर-गुल होते हुए दिन में और कभी रात के भयङ्कर अँधेरे में नक्षत्र-राय बराबर चले जा रहे हैं। कितने ही देश, कितने ही विचित्र दृश्य और कितने ही विचित्र लोग दिखलाई दे रहे हैं। किन्तु नक्षत्रराय के पार्श्व में छाया की तरह म्लान और धूप की तरह प्रकाशमान वही एक-मात्र रघुपति है। दिन में रघु-पति, रात में रघुपति और स्वप्न में भी, सर्वत्र रघुपति बिराजमान है। सड़क पर यात्रियों का ताँता लग रहा है। सड़क के किनारे धूल में लड़के खेल रहे हैं। पैंठ में सैकड़ों आदमी क्रय-विक्रय कर रहे हैं। गाँव में बूढ़े लोग चौपड़ खेल रहे हैं। घाट पर स्त्रियाँ पानी भर रही हैं। नाव पर माँझी गीत गाते हुए चले जा रहे हैं। परन्तु नक्षत्रराय के पास

वही एक दुबला-पतला रघुपति हमेशा जाग रहा है। संसार में चारों ओर विचित्र कौतुक हो रहे हैं, विचित्र घटनाएँ संघटित हो रही हैं किन्तु इस अद्भुत रहस्य-मय नाट्य-शाला के बीच से नक्षत्रराय का अभाग्य उन्हें घसीटे लिए जा रहा है। जन-समाज उनके लिए निर्जन हो रहा है। लोगों के निवासस्थान उनके लिए मरुभूमि हो रहे हैं। नक्षत्रराय थककर अपनी पार्श्ववर्तिनी छाया से पूछते हैं—"अब और कितनी दूर जाना होगा?" छाया उत्तर देती है—"बहुत दूर।" "कहाँ जाना होगा?" इसका जवाब नहीं। नक्षत्रराय साँस लेकर चल पड़ते हैं। पेड़ों की पंक्ति में पत्तों से छाये हुए साफ़-सुथरे सूने घरों को देखकर उनके मन में आता है कि यदि मैं इन घरों का अधिवासी होता तो कैसा अच्छा होता। गोधूलि के समय जब चरवाहे कन्धे पर लाठी रक्खे मैदान और गाँव के रास्ते से धूल उड़ाते हुए गाय-बछड़ों को लिये चले आते हैं तब नक्षत्रराय के मन में आता है कि यदि मैं इन लोगों के साथ जाने पाता, और साँझ के समय घर जाकर विश्राम करता तो कैसा अच्छा होता। दो-पहर की कड़ी धूप में किसान हल चला रहा है। उसे देखकर नक्षत्रराय सोचते हैं—"अहा! यह कैसा सुखी है।" रास्ते की तकलीफ़ से नक्षत्रराय कान्ति-हीन, दुबले और काले हो गये हैं। रघुपति से कहते हैं—"बाबा, मैं अब न बचूँगा"। रघुपति कहता है—"अभी तुमको मरने कौन देगा?" नक्षत्र-

राय के। निश्चय हो गया कि रघुपति से बिना छुट्टी पाये हमको मरने का भी सुभीता नहीं। एक औरत नक्षत्रराय को देखकर बोली—"अहा, यह किसका लड़का है। इसको घर से किसने बाहर किया है ?" यह सुनकर नक्षत्रराय का हृदय पिघल गया। उनके नयनों में नीर भर आया। उनकी इच्छा हुई कि उस औरत को माँ कहकर उसके साथ उसके घर चले जायँ।

रघुपति के हाथ से नक्षत्रराय जितना ही कष्ट पाने लगे उतना ही वे उसके अधीन होने लगे। रघुपति की उँगली के इशारे पर उनकी स्थिति परिचालित होने लगी।

चलते-चलते क्रमशः नदी का जल-बाहुल्य घटने लगा। क्रमशः कठिन भूमि आगे आई। मिट्टी लाल और कँकरीली है। दूर-दूर लोगों के घर दिखाई देते हैं। पेड़ बहुत कम हैं। नारियल के जङ्गलवाले देश को छोड़कर ये दोनों पथिक ताड़-बन वाले देश में आ गये। बीच-बीच में बड़े-बड़े बाँध हैं। सूखी नदी का प्रवाह-पथ है। दूरवर्त्ती पहाड़ मेघ के सदृश दिखाई दे रहा है। क्रमशः शाह शुजा की राजधानी राजमहल समीपस्थ होने लगा।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

शुजा जैसे-तैसे राजधानी (राजमहल) में पहुँच गये। हार होने और कैदखाने से भाग निकलने के बाद शुजा नई

फ़ौज एकत्र करने का उद्योग करने लगे। किन्तु ख़ज़ाने में रुपये की कमी थी। प्रजा मालगुज़ारी के मारे तबाह है। इसी बीच में औरङ्गज़ेब दारा को हराकर दिल्ली के शाही तख़्त पर बैठ गया। यह ख़बर पाकर शुजा बिलकुल घबरा गये। किन्तु लड़ाई का सामान ठीक नहीं था, इससे कुछ अवकाश मिल जाने की इच्छा से शुजा ने कपट करके औरङ्गज़ेब के पास दूत भेज दिया। उससे कहला भेजा कि आँखों के तारे, हृदय के आनन्दस्वरूप, परमस्नेही परम प्रिय भाई औरङ्गज़ेब सिंहासन प्राप्त कर सफल-मनोरथ हुए हैं, इससे शुजा के मृत शरीर में मानों प्राण पलट आये। इस समय नये बादशाह यदि शुजा के लिए बङ्गाल का शासन-भार देना स्वीकृत करें तो उसके लिए ख़ुशी की और कोई बात बाक़ी न रह जाय।

औरङ्गज़ेब ने बड़ी इज़्ज़त के साथ दूत से मिलकर शुजा का कुशल पूछा और उनके बाल-बच्चों का शुभ समाचार जानने के लिए बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की। उसने कहा—जब स्वयं बादशाह शाहजहाँ ने शुजा को बङ्गाल का शासन-भार सौंपा है तब उसके लिए फिर नया परवाना देने की कोई ज़रूरत नहीं।

इसी अवसर पर रघुपति शुजा के दरबार में जाकर हाज़िर हुआ।

शुजा ने बड़ी कृतज्ञता और सम्मान के साथ अपने उद्धार-कर्ता रघुपति को बुलाया और पूछा—क्या हाल है?

रघुपति ने कहा—हुज़ूर की ख़िदमत में कुछ इत्तिला करनी है।

शुजा ने मन ही मन सोचा—अब फिर कैसी इत्तिला ? कुछ द्रव्य न माँगे तो ख़ैरियत है।

रघुपति ने कहा—मेरी प्रार्थना यही है कि—

शुजा ने कहा—ब्राह्मण, मैं तुम्हारी इच्छा ज़रूर पूरी करूँगा। लेकिन कुछ दिन सब्र करो। अभी ख़ज़ाने में ज़्यादा रुपया नहीं है।

रघुपति ने कहा—जनाब आली, मैं सोना चाँदी अथवा और कोई द्रव्य नहीं चाहता। मैं अभी केवल सान दिया हुआ लोहा चाहता हूँ। मेरी नालिश सुनिए, मैं सिर्फ़ न्याय के लिए प्रार्थना करता हूँ।

शुजा—बड़ी मुश्किल हुई। यह न्याय करने का समय नहीं है। तुम बड़े बे-मौक़े आये।

रघुपति ने कहा—शाहज़ादा साहब, वक़्त-बे-वक़्त सभी के लिए है। आप बादशाह हैं तो आपके लिए भी है और मैं दरिद्र ब्राह्मण हूँ तो मेरे लिए भी है। आप अपने समय के अनुसार अपने ही विचार में उलझे रहेंगे तो फिर मेरा वक़्त कहाँ जायगा ? मेरा न्याय कौन करेगा ?

शुजा ने विवश होकर कहा—बड़ी कबाहत है। इतनी बातें सुनने की अपेक्षा तुम्हारी नालिश सुन लेना अच्छा है। कहो, क्या कहना है ?

रघुपति ने कहा—त्रिपुरा के राजा गोविन्दमाणिक्य ने अपने छोटे भाई को अपने राज्य से बिना अपराध बाहर निकाल दिया है।

शुजा रुष्ट होकर बोले—बरहमन, तुम दूसरे की नालिश लेकर मेरे वक्त को क्यों बरबाद करते हो! अभी इन बातों के विचार करने का वक्त नहीं है।

रघुपति—अभियोगी राजधानी में हाज़िर है।

शुजा—वह स्वयं हाज़िर होकर अपने मुँह से जब नालिश करेगा तब विचार किया जायगा।

रघुपति—उन्हें यहाँ किस वक्त हाज़िर करूँ?

शुजा—बरहमन किसी तरह पिण्ड नहीं छोड़ता। अच्छा, एक हफ़्ते के बाद उसे ले आना।

रघुपति ने कहा—हुजूर का हुक्म हो तो मैं कल उन्हें यहाँ हाज़िर करूँ।

शुजा ने झुँझलाकर कहा—अच्छा, कल ही उसे यहाँ ले आना।

आज दिन भर के लिए शुजा ने छुट्टी पाई। रघुपति वहाँ से चला गया।

नक्षत्रराय ने कहा—नवाब के पास जायँगे तो, लेकिन नज़राने के लिए क्या ले जायँगे?

रघुपति—उसके लिए तुमको झंझट न करनी होगी। उसने नज़राने के लिए डेढ़ लाख रुपये लाकर उनके आगे रख दिये।

दूसरे दिन सबेरे ही रघुपति, डरते हुए नक्षत्रराय को साथ लेकर, शुजा के दरबार में हाज़िर हुआ। जब डेढ़ लाख रुपये

नवाब के पैरों के पास रक्खे गये तब उनका चेहरा वैसा उदास न देख पड़ा। नक्षत्रराय की नालिश बड़ी आसानी के साथ उनकी समझ में आ गई। उन्होंने कहा—बोलो, इस व तुम क्या चाहते हो ?

रघुपति ने कहा—गोबिन्दमाणिक्य को राज्यच्युत करके उनकी जगह नक्षत्रराय को राजा बनने का परवाना दिया जाय।

यद्यपि शुजा अपने भाई का सिंहासन हड़पने के लिए ज़रा भी कुण्ठित नहीं हैं तथापि ऐसे मौके पर उनके हृदय में कुछ रुकावट सी आ खड़ी हुई। किन्तु रघुपति की प्रार्थना पूरी कर देना ही उन्हें फ़िलहाल सब बातों की अपेक्षा सुगम जान पड़ा। ऐसा न करने से रघुपति फिर बहुत सी दलीलें करेगा, यही डर था। दूसरे यह कि डेढ़ लाख रुपया नज़राना पाने पर भी तरदीद करना ठीक नहीं। उन्होंने कहा—अच्छा गोविन्द-माणिक्य को राज्य से अलग होने और नक्षत्रराय को राज्य मिलने का परवाना तुम्हें दिया जायगा। तुम उसे अपने साथ ले जाओ।

रघुपति ने कहा—कुछ शाही फ़ौज को भी साथ जाने की अनुमति दी जाय।

शुजा ने दृढ़ता के साथ कहा—नहीं, नहीं, यह बात नहीं होगी। मैं लड़ाई में अभी अपने को नहीं उलझा सकता।

रघुपति ने कहा—लड़ाई के ख़र्च के लिए छत्तीस हज़ार रुपये मैं और रक्खे जाता हूँ और त्रिपुरा की गद्दी पाते ही

नक्षत्रराय एक साल का ख़ज़ाना सेनापति के हाथ भेज देंगे।

यह प्रस्ताव शुजा को अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ा। मन्त्री भी इस विषय में सहमत हुए। मुग़ल सेना का एक दल साथ लेकर रघुपति और नक्षत्रराय त्रिपुरा की तरफ़ रवाना हुए।

उनतीसवाँ परिच्छेद

इस समय ध्रुव की उम्र चार वर्ष की है। अब वह बहुत बातें करना सीख गया है। वह अब अपने को बड़ा समझता है। यद्यपि सब बातें स्पष्ट नहीं बोल सकता तथापि जो कुछ बोलता है ख़ूब ज़ोर से बोलता है। "खिलौना दूँगा" कहकर वह अकसर राजा को विशेष प्रलोभन और आश्वासन देने लगा है। राजा अगर कभी अप्रियता का लक्षण प्रकट करते हैं तो ध्रुव उनको "घर में बन्द कर दूँगा" कहकर ख़ूब धमकाता है। राजा अभी इसके कठोर शासन के पाबन्द हैं ध्रुव की नापसन्दगी का कोई काम करना वे अधिक पसन्द नहीं करते।

इसी बीच ध्रुव का और एक पड़ोसी की लड़की का एका-एक साथ हो गया। वह उम्र में ध्रुव से छः मास छोटी है। दस ही मिनट में उन दोनों के बीच घनिष्टता हो गई। बीच में छोटा सा मन मुटाव होने को भी बात उपस्थित हुई थी। ध्रुव के हाथ में एक बड़ा बताशा था। प्रथम प्रेम के उफ़ान में ध्रुव ने, अपनी दो छोटी उँगलियों से, बड़ी सावधानी के

साथ एक छोटा सा कना तोड़कर एकदम उस लड़की के मुँह में रख दिया और बड़ी ख़ातिर से गर्दन हिलाकर कहा—"तुम खाओ।" उसने उसे खाया और प्रसन्न होकर कहा—"और भी खाऊँगी।" अब तो ध्रुव कुछ घबरा गया; मित्रत्व भावपर इतना बड़ा दबाव उसे न्यायसंगत न जान पड़ा उसने अपनी स्वाभाविक गम्भीरता और चतुरता के साथ सिर हिलाकर, आँखें दिखलाकर, कहा—"औल मत खाओ, बहुत खाने से औगुन कलेगा। बाबा मालेगा।" अब उसने झटपट सारे बताशे को अपने मुँह में एक ही बार रख लिया। हठात् उस लड़की के मुँह का भाव बदलने लगा और रोने का लक्षण प्रकट हुआ। ध्रुव किसी का रोना सहन नहीं कर सकता था। वह तुरन्त धीरता के साथ आश्वासन देकर बोला—कल दूँगा।

राजा के आते ही ध्रुव बड़ी सावधानी से अपनी नई सङ्गिनी की ओर लक्ष्य करके बोला—"इसे कुछ मत कहो, यह लोवेगी। छिः, इसको मत मालो।" यद्यपि राजा को उस लड़की पर किसी तरह की अप्रसन्नता नहीं थी तथापि देह पर गिरकर राजा को सावधान कर देना ध्रुव ने बहुत ज़रूरी समझा।

चतुर लोग जिस प्रकार शान्त भाव धारण करके ध्रुव को उपदेश देते थे और बुरे कामों से दूर रहने के हेतु धिक्कारते थे उसी तरह ध्रुव भी लोगों की भलाई के लिए उन उपदेशों और

धिक्कार-वाक्यों को प्रयुक्त करना अपना कर्तव्य समझता था। राजा ने उस लड़की को नहीं मारा। ध्रुव ने प्रत्यक्ष देखा कि मेरा उपदेश निष्फल नहीं हुआ।

इसके बाद ध्रुव ने वारिस का भाव धारण किया। "डरने की कोई बात नहीं है" यह भली भाँति समझाकर वह बड़ी गम्भीरता के साथ उस लड़की को धीरज देने की चेष्टा करने लगा। इसकी भी कोई ज़रूरत न थी; क्योंकि वह लड़की स्वयं निर्भयतापूर्वक राजा के पास जाकर कुतूहलवश, बड़े हौसले के साथ, उनके हाथ का कङ्कण घुमा-घुमाकर देखने लगी थी।

ध्रुव ने अपने ही प्रयत्न और प्रयास से लोगों में इस प्रकार शान्ति और प्रेम स्थापन करके राजा के मुँह के पास, प्रसन्न-मन से, अपना बेला-फूल के सदृश पुष्ट प्रफुल्ल कोमल मुँह रक्खा। राजा ने जो उसके साथ अच्छा बर्ताव किया है, मानो उसने उसी का पुरस्कार आगे रख दिया है। राजा ने उसका मुँह चूमा। तब ध्रुव ने अपनी सङ्गिनी का मुँह दिखाकर राजा को कुछ अनुमति और अनुरोध के स्वर में कहा—"इसका मुँह चूमो।" ध्रुव की बात न मानने का साहस राजा नहीं कर सके। तब वह लड़की चिर-परिचिता की तरह निःसंकोच भाव से राजा की गोद में जा बैठी। इतनी देर तक ध्रुव के मन में किसी प्रकार की अस्थिरता या उद्दण्डता का भाव नहीं था। इस बार उसके सिंहासन पर दबाव पड़ते ही उसका विराट् प्रेम चञ्चल हो उठा। राजा की गोद

में अपना एक मात्र आधिपत्य स्थापित करने की उसकी इच्छा बलवती हो उठी। उसका मुँह बहुत भारी हो गया। दो-एक बार उसने लड़की को खींचा। यहाँ तक कि अपने को अवस्था में कुछ बड़ा समझकर लड़की को मारना भी उसे उतना अनुचित नहीं जान पड़ा। तब राजा ने झगड़ा मिटाने के अभिप्राय से ध्रुव को भी अपनी गोद के आधे हिस्से में बैठा लिया, परन्तु तब भी ध्रुव का टण्टा लगा ही रहा। गोद के आधे भाग को हस्तगत करने के हेतु वह पुनः नवीन आक्रमण की चेष्टा करने लगा। उसी वक्त नये राजपुरोहित बिल्वन ठाकुर कमरे में आ पहुँचे। राजा ने दोनों को गोद से उतारकर उनको प्रणाम किया। ध्रुव से कहा—"पुरोहितजी को प्रणाम करो।" ध्रुव ने इसे आवश्यक नहीं समझा। वह मुँह में उँगली डालकर असम्मत भाव से खड़ा रहा। लड़की ने आपसे ही राजा की देखा-देखी पुरोहित को प्रणाम किया।

बिल्वन ठाकुर ने ध्रुव को गोद में बैठाकर और हँसकर पूछा—तुम्हारी यह सङ्गिनी कौन है और कहाँ से आई है?

ध्रुव ने सोचकर कहा—मैं टकटक पल चढ़ूँगा।

टकटक का मतलब यहाँ घोड़े से है। "र" की जगह ध्रुव अभी तक "ल" का ही उच्चारण करता है।

पुरोहित ने कहा—वाह, वाह, मेरे प्रश्न और तुम्हारे उत्तर का खासा मेल है।

एकाएक ध्रुव की दृष्टि उस लड़की पर जा पड़ी। उसके

सम्बन्ध में बड़े ही संक्षेप में अपना मनोगत भाव प्रकट करके कहा—"वह दुष्टा है, उसे मारूँगा।" अब उसने अपनी छोटी सी मुट्ठी बाँधकर ऊपर उठाई।

राजा ने कहा—ध्रुव, यह क्या करते हो ! छिः।

एक ही फूँक में जैसे दिया बुझ जाता है वैसे ही उस बात से ध्रुव का चेहरा तुरन्त मलिन हो गया। पहले तो आँसू रोकने के हेतु वह आँखों को दोनों मुट्ठियों से रगड़ने लगा किन्तु देखते-देखते वह अपने छोटे से कोमल कलेजे को न सम्हाल सका और रो उठा। बिल्वन ठाकुर ने उसे भुला-कर, गोद में लेकर, एक बार ऊपर उठाकर और एक बार नीचे उतारकर हैरान कर दिया और ख़ूब ज़ोर से जल्दी-जल्दी उच्चारण करके कहा—सुनो, सुनो, ध्रुव, तुमको मैं एक श्लोक सुनाता हूँ। सुनो तो—

"कलहकटकटाङ्गं काठकाठिन्यकाठ्यं,
कटनकिटनकीटं कुट्मलं खट्टमट्टम्।"

अर्थात् जो लड़का बहुत रोवे उसको कलह कटकटाङ्ग के भीतर बन्द करके अच्छी तरह काठ काठिन्य काठ्यम् देना चाहिए। इसके बाद इन कटन किटन कीटं का लेकर बस, तीन दिन तक कुट्मलं खट्टमट्टम्। पुरोहित महाशय इस तरह अंट-संट बक गये। ध्रुव का रोना अभी पूरा नहीं हुआ था पर इस युक्ति से बीच में ही एकदम बन्द हो गया। पहले तो वह उस आश्चर्यजनक व्यवहार से चकित होकर चुपचाप

बिल्वन ठाकुर के मुँह की ओर ताकने लगा, फिर उनके हाथ-मुँह चमकने की मुद्रा देखकर उसे बड़ा ही कुतूहल हुआ। वह अत्यन्त प्रसन्न होकर बोला—"फिल कहो" पुरोहित फिर बक गये। ध्रुव ख़ूब हँसते हँसते बोला—"फिल कहो।" राजा ने ध्रुव के आँसू से भीगे हुए गालों को और हँसी से भरे हुए ओठों को बार-बार चूमा। उस समय राजा, राज-पुरोहित और उन दोनों लड़के-लड़कियों के बीच माने एक खेल आ खड़ा हुआ।

बिल्वन ठाकुर ने राजा से कहा—महाराज, आप इन लोगों के साथ रहकर बड़े मज़े में हैं। दिन-रात तीक्ष्ण बुद्धिवालों के साथ रहने से बुद्धि लुप्त हो जाती है। छुरी पर बराबर सान चढ़ाते रहने से वह क्रमशः पतली होते-होते अदृष्ट हो जाती है, सिर्फ़ एक मोटा बेंट बच रहता है।

राजा ने कहा—मेरी समझ में तो सूक्ष्म बुद्धि का कोई लक्षण मुझमें प्रकट नहीं पाया जाता।

बिल्वन—नहीं, सुगम पदार्थ को जो कठिन कर डाले यही एक सूक्ष्म बुद्धि का लक्षण है। संसार में बुद्धिमान् बहुत न होते तो संसार के कितने ही काम सुगम हो जाते। जितना ही सुभीता करते जाओ उतनी ही असुविधा बढ़ती जायगी। अधिक बुद्धि लेकर आदमी क्या करेगा, यह मेरी समझ में नहीं आता।

राजा ने कहा—पाँच उँगलियों से ही दुनिया का काम अच्छी तरह चल जाता है। दुर्भाग्यवश सात उँगलियों के पाने

की इच्छा करके केवल काम बढ़ाना है और क्या।

राजा ने ध्रुव को पुकारा। वह अपनी सङ्गिनी के साथ फिर मेल करके खेल रहा था। राजा का स्वर पहचानकर, खेल छोड़कर, तुरन्त उनके पास दौड़ा आया। राजा ने उसको अपने पास बैठाकर कहा—"ध्रुव, वह नया गीत ठाकुर को सुनाओ।" ध्रुव ने बड़े ही असमञ्जस भाव से बिल्वन ठाकुर के मुँह की ओर देखा। राजा ने लालच देकर कहा—"तुमको टकटक पर चढ़ने दूँगा।" ध्रुव अपने अधूरे उच्चारण से पढ़ने लगा।

प्रभु बिन तोहि कहाँ लगि तूलौं।
सौ जन मिलि मोहि पन्थ बतावत पग पग पै मग भूलौं।
बिबिध वचन कहि मुनि मन मोहत तिहि संशय पड़ि झूलौं॥
रही तुम्हारे ढिग जैबे की अभिलाषा मन मेरे।
जिय के सब सन्देह मिटैहैं सुखद बैन सुनि तेरे॥
श्रुति समीप सब मिलि निज निज रुचि करत बिचार बतोली;
केहि को मैं प्रणाम करि मानौं सब की सब बिधि बोली॥
अति अधीर चित्त ह्वै तेरे ढिग जीवन को जब धाऊँ।
करत आड़ सब मिलि ठाढ़े ह्वै आसपास कित जाऊँ॥
भेटत नाहिं चरणरज तेरी बार बार पछिताऊँ।
लै धरती की धूल तबै प्रभु बिबस लौटि पुनि आऊँ॥
भाँति भाँति की वृत्ति दिवानिस वि बध दिशा में धावै।
अपनी अपनी ओर चित्त को गहि गहि कलह मचावै॥

केहि बिधि काहि सँभालौं नित ये आपुस में सब जूझैं ।
मैं अकेल इनकी संख्या बहु कुछ उपाय नहिं सूझै ॥
यहै नाथ अब देहु मोहि निज प्रेमपाश सुखदाई ।
सुगम पन्थ दरसावहु जेहितें कबहुँ न होय जुदाई ॥
विषय जाल में उलझि कहाँ लों सहिहौं दुख बिलुखाई ।
जनसीदन जनि मोहिं बिसारहु लेहु चरण लिपटाई ॥

ध्रुव के अर्ध स्फुटित स्वर में यह गीत सुनकर बिल्वन ठाकुर का हृदय एकदम पिघल गया। वे बोले—"आशीर्वाद देता हूँ, तुम दीर्घायु हो।" ध्रुव को गोद में उठाकर बिल्वन ठाकुर ने बड़े अनुनय-विनय के साथ कहा—बच्चा, एक बार फिर सुनाओ।

ध्रुव ने बड़ी सख्त चुपकी लगाकर असम्मति प्रकट की। पुजारी ने अपनी आँखें ढककर कहा—तो मैं रोता हूँ।

ध्रुव ने कुछ कातर होकर कहा—कल छुनाऊँगा, छिः लोओ मत। तुम अभी चल जाओ, बाबा मालेगा।

बिल्वन ठाकुर ने हँसकर कहा—इसकी बोली बड़ी मधुर है।

राजा से आज्ञा लेकर पुजारीजी विदा हुए।

रास्ते में दो आदमी जा रहे थे। एक दूसरे से कह रहा था—तीन दिन उसके द्वार पर जा-जाकर सिर फोड़ा पर एक पैसा भी उससे न मिल सका। अब वह रास्ते में कहीं मिला तो बिना उसका सिर फोड़े न रहूँगा। देखूँ तो वह क्या करेगा?

पीछे से बिल्वन ने कहा—उससे कोई फल न होगा बाबू, क्या तुम्हें सूझता नहीं ? माथे में तो और कुछ है नहीं, केवल दुर्बुद्धि भरी है । दूसरे का सिर फोड़ने की अपेक्षा अपना सिर फोड़ना अच्छा है, क्योंकि इसके लिए किसी को जवाब देही नहीं करनी पड़ती ।

वे दोनों आदमी डर गये और ठिठककर ठाकुर को प्रणाम करके खड़े हो रहे ।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—बाबू, तुमने अच्छी बात नहीं कही ।

दोनों ने कहा—हाँ, ठीक है महाशय, अब ऐसी बात फिर कभी न कहूँगा ।

रास्ते में पुजारीजी को लड़कों ने घेर लिया । बिल्वन ठाकुर ने कहा—आज तीसरे पहर मेरे यहाँ आना, मैं आज क़िस्सा सुनाऊँगा ।

लड़कों ने मारे ख़ुशी के आपस में कूद फाँदकर हाँ-हाँ, हीं-हीं मचा दी । किसी-किसी दिन बिल्वन ठाकुर राजधानी के लड़कों को, एकत्र करके, सरल भाषा में रामायण और महाभारत की कथा सुनाते थे । बीच-बीच में दो-एक नीरस कहानियों को भी सरल बनाकर कहने की चेष्टा करते थे । किन्तु जब देखते कि लड़के अब अँगड़ाई-जँभाई लेने लगे तब उनको मन्दिर के बगीचे में छोड़ देते थे । उसमें बहुत से वृक्ष फल वाले हैं । लड़के चिल्ला-चिल्लाकर वानरों की तरह पेड़ों पर चढ़

जाते और डाल-डाल पर फलों की लूट-पाट मचाते थे। बिल्वन ठाकर को यह देखकर बड़ाही आनन्द होता था।

बिल्वन ठाकुर संन्यासी परमहंस हैं, वे किस देश के रहनेवाले हैं यह किसी को मालूम नहीं। ब्राह्मण, हैं किन्तु जनेऊ त्याग दिया है। बलिदान आदि बन्द करके वे एक नई रीति पर काली की पूजा कर रहे हैं। पहले-पहल तो लोगों ने उसमें सन्देह और असम्मति प्रकट की थी किन्तु अब सबको सह्य हो गया है। बल्कि सब लोग विशेष करके बिल्वन की बात के पाबन्द हैं। बिल्वन सबके घर जा-जाकर सबके साथ बातचीत करते हैं, सबकी खोज-ख़बर लेते रहते हैं, और रोगी को जो औषधि देते हैं वह उसे विलक्षण लाभ करती है। सुख-दुःख दोनों में सभी लोग उन्हीं की राय से काम करते हैं। वे मध्यस्थ होकर किसी का झगड़ा मिटा दें अथवा कुछ निर्णय कर दें तो उस पर फिर कोई कुछ नहीं बोलता।

तीसवाँ परिच्छेद

इस साल त्रिपुरा में वह घटना हुई जो इसके पहिले कभ न हुई था। उत्तर ओर से झुण्ड के झुण्ड चूहे त्रिपुरा की धान की खेती में आ घुसे। उन्होंने कुल धानों को काट डाला। यहाँ तक कि किसानों के घर में जो कुछ धान रक्खे थे उनको

भी वे अधिकाँश खा गये। देश में चारों ओर हाय-हाय मच गई। देखते-देखते अकाल फैल गया। लोग जङ्गल से फल-मूल ला-लाकर प्राण-रक्षा करने लगे। जङ्गल की कमी नहीं है। जङ्गल में मनुष्यों के पेट की आग बुझानेवाले भाँति-भाँति के पौदे हैं। शिकार करके लाये हुए जङ्गली जानवरों का मांस बाज़ार में अधिक दाम पर बिकने लगा। लोग जङ्गली भैंसे, हिरन, ख़रगोश, साही (शल्लकी), गिलहरी और सूअर आदि जानवरों को मार-मारकर खाने लगे। हाथी मिल जाने पर लोग उसे भी नहीं छोड़ते थे। अजगर को भी खाने लगे। जङ्गल में खाने लायक़ पक्षियों का अभाव नहीं है। वृक्षों के कोटरों में मधुमक्खियों के मधु-सहित छत्ते पाये जाते हैं। जगह-जगह नदी का पानी बाँधकर लोग उसमें ज़हरीली लताएँ डाल देते थे जिससे मछलियाँ उछलकर ऊपर चली आती थीं। उन मछलियों को पकड़-पकड़कर लोग खाने लगे और कुछ सुखा-सुखाकर जमा भी करने लगे। बिल्वन ठाकुर घर-घर घूमकर सबको ढाढ़स देने और खाने-योग्य सामग्रियों के संग्रह की कितनी ही तदबीरें बतलाने लगे। उन्होंने बतला दिया कि वन में एक प्रकार का पौदा होता है जिसके बीज बहुत छोटे-छोटे होते हैं। उन बीजों को आग पर भूनने से दूध की तरह उजले पदार्थ निकलते हैं। वह थोड़ा सा खा लिया जाय तो बहुत शीघ्र क्षुधा शान्त हो जाती है। अब भी लोगों का आहार किसी तरह ही चला जा रहा है;

पर हाहाकार बहुत मच गया। कहीं-कहीं चोरी डकैती होने लगी। प्रजा ने विद्रोह का लक्षण प्रकट किया। वे लोग कहने लगे—"देवी का बलिदान बन्द कर दिया गया है उसी के अभिशाप से ये अनहोनी बातें होने लगी हैं।" बिल्वन ठाकुर ने इस बात को हँस कर उड़ा दिया। उन्होंने कहा—"कैलास पर कार्त्तिकेय और गणेश के बीच कुछ खट-पट हुई है, कार्त्तिकेय के मोर पर गणेश के चूहे त्रिपुरा भग-वती के पास नालिश करने आये हैं।" प्रजा ने इस बात को बिलकुल परिहास ही नहीं समझा। उन लोगों ने देखा कि बिल्वन ठाकुर की बात सोलहों आने सही निकली। चूहों का दल जिस तरह शीघ्र गति से आया था उसी तरह शीघ्रता से सब धानों को नष्ट करके न मालूम कहाँ अन्तर्हित हो गया। तीन दिन के भीतर फिर उसका कहीं नाम-निशान न रहा। बिल्वन ठाकुर को अगाध ज्ञान है, इस विषय में किसी को कुछ सन्देह न रहा। कैलास पर भाई-भाई में वैमनस्य होने का गीत बनने लगा। स्त्रियाँ, लड़के और भिखमङ्गे लोग बड़े चाव से उस गीत को गाने लगे। गली-गली में वह गीत प्रचलित हो गया; किन्तु राजा के ऊपर प्रजा का असन्तोष कुछ-कुछ बना ही रहा। बिल्वन ठाकुर की सलाह से गोविन्दमाणिक्य ने दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रजा का एक साल का लगान (मालगुज़ारी) माफ़ कर दिया। उसका परिणाम बहुत अच्छा हुआ। इतने पर भी कितने ही लोग, देवी के शाप से, डरकर

चटगाँव के पहाड़ी प्रदेश में भाग-भागकर जाने लगे। यहाँ तक कि स्वयं राजा के मन में भी सन्देह होने लगा। उन्होंने बिल्वन ठाकुर को बुलाकर कहा—पुजारी जी, राजा के ही पाप से प्रजा को कष्ट हो रहा है। क्या मैंने देवी का बलिदान बन्द करके पाप किया है? क्या उसी का यह दण्ड है?

बिल्वन ठाकुर ने इन बातों को एक दम उड़ा दिया और कहा—देवी के आगे जब हज़ार नरबलि दी जाती थी तब आपकी प्रजा की अधिक हानि होती थी या इस दुर्भिक्ष से अधिक हुई है?

राजा इसका कुछ उत्तर न दे सके, किन्तु उनके मन का सन्देह पूर्ण रूप से दूर न हुआ। प्रजा उनसे अप्रसन्न है, उन पर सन्देह करती है, इन बातों की चोट उनके हृदय में लगी है। यही क्यों, इन बातों से स्वयं उनको अपने ऊपर सन्देह हो गया है। उन्होंने लम्बी साँस लेकर कहा— कुछ भी समझ में नहीं आता।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—ज़्यादा समझने की ज़रूरत क्या ? चूहों के कितने ही दल आकर धान का नाश कर गये, इसका कारण नहीं समझा इससे क्या? "मैं अन्याय न करूँगा, मैं सबकी भलाई करूगा।" इतना समझ लेने से ही सब हो गया। इसके बाद विधाता का जो काम है सो वे करेंगे। वे हम लोगों को हिसाब देने न आवेंगे।

राजा ने कहा—तुम घर-घर घूमकर बराबर अपने कर्तव्य का

पालन कर रहे हो । जितना ही संसार का उपकार कर रहे । उतना ही तुम धन्यवाद पा रहे हो । इस आनन्द में तुम्हारे सब सन्देह चले जाते हैं। मैं दिन-रात माथे पर मुकुट रक्खे सिंहासन पर बैठा रहता हूँ। केवल चिन्ता का बोझ मेरे सिर पर चढ़ा रहता है। तुम्हारा काम देख-देखकर मेरा जी तरसता है।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—महाराज, मैं तो आपका ही एक अंश हूँ । आप यदि इस सिंहासन पर न विराजते तो मैं कौन काम कर सकता ? आप और हम दोनों मिलकर पूरे हुए हैं।

यह कहकर बिल्वन ठाकुर विदा हुए । राजा माथे पर मुकुट रखकर सोचने लगे । उन्होंने मन ही मन कहा कि मुझे अभी बहुत से काम करने हैं, पर मुझसे कुछ करते नहीं बनता । मैं अपनी चिन्ताओं को लेकर ही निश्चिन्त रहता हूँ । इसी कारण मैं अपने ऊपर प्रजा का विश्वास उत्पन्न नहीं करा सकता। मैं राज्य-शासन के योग्य नहीं हूँ ।

इकतीसवाँ परिच्छेद

मुग़ल सेना के नायक होकर नक्षत्रराय रास्ते में तेंतुल नाम की छोटी सी बस्ती में ठहरे थे । सबेरे ही रघुपति ने आकर कहा—अब यहाँ से प्रस्थान किया जाय, महाराज चलने के लिए तैयार हों।

रघुपति के मुह से एकाएक महाराज शब्द बड़ा ही मीठा सुन पड़ा। नक्षत्रराय ख़ुशी के मारे फूल उठे। कल्पना में संसार के सभी लोगों के मुँह से उन्हें 'महाराज' सम्भाषण सुनाई देने लगा। वे दरबार को जगमगाते हुए त्रिपुरा के ऊँचे सिंहासन पर जा बैठे। उमङ्ग में आकर बोले—पुरोहित जी, मैं आपको कभो अलग न होने दूँगा। आपको बराबर दरबार में रहना होगा। आप क्या चाहते हैं—यही ज़रा मुझे कह सुनाइए।

नक्षत्रराय ने मन ही मन मानों खेलवाड़ की तरह रघुपति को तुरन्त ज़मीन का एक बड़ा हिस्सा जागीर दे डाला—

रघुपति ने कहा—मैं कुछ नहीं चाहता।

नक्षत्रराय ने कहा—यह न होगा। कुछ न कुछ आपको लेना ही होगा। कयलासर नाम का परगना मैंने आपको दे दिया। आप मुझ से अभी लिखा लीजिए।

रघुपति ने कहा—ये बातें पीछे देखी जायँगी।

नक्षत्रराय—पीछे क्यों, मैं अभी देता हूँ। सारा कयलासर परगना आपका हुआ। मैं आप से लगान में एक पैसा भी न लूँगा।

अब नक्षत्रराय सिर उठा कर और सीना तान कर बैठे।

रघुपति—मरने के लिए तीन हाथ ज़मीन मिल जाने से ही मैं सुखी हूँ। मैं और कुछ नहीं चाहता।

रघुपति चला गया। उसको जयसिंह का स्मरण हो

आया। जयसिंह यदि रहता तो पुरस्कार-स्वरूप मैं कुछ ले भी लेता। जब जयसिंह नहीं है तब सारा त्रिपुरा राज्य रघुपति के लिए मिट्टी के ढेर के बराबर है।

रघुपति अब नक्षत्रराय को राज्यमद से मत्त करने का प्रयत्न कर रहा है। उसके मन में यह डर है कि इतना आयोजन करके पीछे कहीं सब व्यर्थ न हो जाय। कहीं यह न हो कि दुर्बल-हृदय नक्षत्रराय त्रिपुरा जाकर बिना युद्ध किये ही राजा के यहाँ अपने को गिरफ़्तार करादें। किन्तु कमज़ोर दिल में एक बार राज्यमद उत्पन्न हो जाय तो फिर कोई चिन्ता नहीं। रघुपति अब नक्षत्रराय को अवहेला की दृष्टि से नहीं देखता। बात-बात में उनकी इज्ज़त करता है। सब बातों में उनकी सलाह लेता और उनकी मौखिक अनुमति लेकर सब काम करता है। मुग़ल सेना उनको महाराज साहब कहती है; उन्हें देखकर सिपाही चटपट उठकर खड़े होते हैं—हवा तेज़ बहने से जिस तरह धानों के शीश झुक जाते हैं उसी तरह नक्षत्रराय को आते देखकर पंक्ति की पंक्ति मुग़ल सेना सिर झुकाकर सलाम करती है। सेनापति बड़ी इज़्ज़त से साथ उन्हें लम्बा सलाम करते हैं। सैकड़ों खुली तलवारों के बीच ऊँचे हाथी की पीठ पर राजचिह्न से अंकित सुनहरे हौदे में बैठकर वे प्रस्थान करते हैं। साथ-साथ उत्साह-वर्द्धक बाजे बजते जाते हैं। राज-चिन्ह-सूचक पताका फहराती हुई आगे-आगे चलती है। वे जिस गाँव से होकर जाते हैं

उस गाँव के लोग सेना के डर से घर-द्वार छोड़कर पहले ही भाग जाते हैं। उन लोगों को इस तरह डर कर भागते देख नक्षत्रराय के मन में गर्व का उदय हो आता था। उनके मन में होता था कि मैं दिग्विजय करता चला जा रहा हू। छोटे-छोटे ज़मींदार अनेक प्रकार के उपहार ले-लेकर सामने हाज़िर होते और सलाम करके चले जाते थे। नक्षत्रराय उन लोगों को पराजित राजा समझते हैं और महाभारत के दिग्विजयी पाण्डवों की बात उन्हें याद आती है।

एक दिन सिपाहियों ने आकर नक्षत्रराय को सलाम किया। वे तनकर बैठ गये। सिपाहियों ने कहा—महाराजा साहब, हम लोग आप के लिये जान देने आये हैं। हम लोग जान की परवा नहीं रखते। हमारा यह नियम हमेशा के लिये है कि जिस रास्ते से लड़ाई करने जाते हैं उस रास्ते के आस-पास के गाँवों को लूटते जाते हैं—इसमें कोई दोष है, ऐसा किसी शास्त्र में नहीं लिखा है।

नक्षत्रराय न सिर हिलाकर कहा—ठीक बात, ठीक बात।

सैनिकों ने कहा—ब्राह्मण ने हम लोगों को लूट करने से रोका है। हम लोग जान देने जा रहे हैं और कुछ लूट-पाट तक न करने पावेंगे; यह बड़ा अन्याय है।

नक्षत्रराय फिर सिर हिलाकर बोले—ठीक बात, ठीक बात। "महाराज की आज्ञा हो तो हम लोग ब्राह्मण की बात न मानकर लूट-पाट करते चलें।"

नक्षत्रराय ने बड़े गर्व से कहा - ब्राह्मण कौन होते हैं? वे क्या जानते हैं? मैं तुम लोगों को आज्ञा देता हूँ। तुम लोग मजे में लूट-पाट करते चलो।

एक बार इधर-उधर घूमकर देखा, किसी तरफ़ रघुपति को न देखकर वे निश्चिन्त हुये। रघुपति को इस प्रकार अकातर भाव से अतिक्रम करके वे अपने मन में बहुत ही ख़ुश हुये। प्रभुता का मद मद्य की तरह, उनकी नस-नस में फैलने लगा। वे संसार को नई दृष्टि से देखने लगे। कल्पित व्योमयान (बैलून) पर चढ़कर मानो वे इस पृथ्वी को बहुत नीचे मेघ की तरह मलिन देखने लगे; यहाँ तक कि बीच-बीच में यदा-कदा रघुपति को भी कुछ नहीं समझते। वे एकाएक मद में मस्त होकर गोविन्द माणिक्य के ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। मन ही मन बार-बार कहने लगे—"मुझको देश-निकाले की सज़ा! मुझको साधारण प्रजा की तरह कचहरी में खड़ा किया! अबकी बार देखता हूँ, कौन किसे निर्वासित करता है! इस बार त्रिपुरा की सारी प्रजा को नक्षत्रराय का प्रताप मालूम हो जायगा।" नक्षत्रराय गर्व के मारे फूल उठे। बेचारे निरपराधी गाँववालों पर अत्याचार और लूट-पाट से रघुपति को बड़ी घृणा थी। उसने इन बातों को रोकने के लिए बहुत उपाय किये; किन्तु मुग़ल सेना न नक्षत्रराय की आज्ञा पाकर रघुपति की बातों पर ध्यान न दिया। आख़िर रघुपति ने नक्षत्रराय

से जाकर कहा—इन बेचारे असहाय गाँववालों पर यह अत्याचार क्यों ?

नक्षत्र राय ने कहा—तुम इन बातों को क्या समझो। युद्ध के अवसर पर सेना को लूट-पाट से रोककर हतोत्साह करना ठीक नहीं।

नक्षत्रराय की बात सुनकर रघुपति कुछ अचम्भे में आ गया। एकाएक नक्षत्र राय का ऐसा महत्त्वाभिमान देखकर वह मन ही मन हँसा और प्रकट रूप से कहने लगा—अभी लूट-पाट करने देने से पीछे इन लोगों को सँभालना कठिन होगा। ये लोग समस्त त्रिपुरा कोलूट लेंगे।

नक्षत्रराय ने कहा—उसमें हानि ही क्या ? मैं तो यही चाहता हूँ। त्रिपुरा एक बार समझे तो कि नक्षत्रराय को देश से निकालने का फल क्या हुआ। तुम इस विषय में कुछ नहीं समझते। तुमने युद्ध ही कब किया है जो इन बातों को समझोगे ?

इस बात को सुनकर रघुपति मन ही मन बहुत प्रसन्न हुआ। नक्षत्रराय की बातों का कुछ उत्तर न देकर वह चला गया। उसकी इच्छा यह थी कि नक्षत्रराय बिलकुल काठ के पुतले की तरह न रहें, वे कुछ चातुर्य भी सीखें।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

त्रिपुरा में जब चूहों का उपद्रव शुरू हुआ था तब सावन का महीना था। खेतों में मकई फल चुकी थी और पहाड़ी ज़मीन में धान पकने लग गया था। तीन महीने किसी तरह कट गये। अगहन के महीने में जब धान कटने का समय आया तब देश में सर्वत्र आनन्द छा गया। किसान* लोग स्त्री, बालक, युवा और वृद्धों के साथ मिलकर हाथ में हँसुआ लिये अपने-अपने खेत में जा पहुँचे। बड़े मीठे सम्बोधन से एक दूसरे को पुकार रहा है। किसानों की स्त्रियाँ रास्ते में, मैदान में, झुण्ड बाँध बाँधकर गाने लगीं। राजा पर जो प्रजा का असन्तोष था वह दूर हो गया। राज्य में सर्वत्र शान्ति छा गई। ऐसे समय ख़बर आई कि नक्षत्रराय, राज्य हड़पने की इच्छा से, असंख्य सेना को साथ लिये त्रिपुरा राज्य की सीमा पर आ पहुँचे हैं। सेना ने विशेष रूप से लूट-पाट और प्रजा पर अत्याचार करना शुरू कर दिया है। इस ख़बर से सारा देश काँप उठा।

यह ख़बर राजा के हृदय में छुरी की तरह चुभ गई। दिन भर यों ही चुभती रही। ठहर-ठहर कर हर एक बार नई

---

* वास्तव में ये लोग किसान नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये लोग यथा विधि खेती नहीं करते। जङ्गल जलाकर वर्षा के आरम्भ में केवल बीज बखेर देते हैं। इस तरह खेती को जूम कहते हैं और खेतिहरों को जूमिया।

बात की तरह उनके मन में स्मरण होने लगा कि नक्षत्रराय हमारे ऊपर आक्रमण करने आ रहे हैं। वे नक्षत्रराय के उस स्वाभाविक सुन्दर मुखड़े को बार-बार अपने स्नेह-भरे नेत्रों से सम्मुख देखने लगे। उसी के साथ-साथ यह भी मन में होने लगा कि वही नक्षत्रराय बड़ी भारी सेना के साथ हाथ में तलवार लिये हम पर आक्रमण करने के लिये आ रहे हैं। वे मन में कहने लगे—"साथ में एक सिपाही तक न लेकर, नक्षत्रराय के सामने उस बड़े युद्ध-क्षेत्र में छाती फैलाकर, खड़े हो जा और नक्षत्रराय के सहस्रशः सैनिकों की तलवारें एक साथ हमारे हृदय का रक्तपान करें।" उन्होंने ध्रुव को अपने पास खींचकर कहा—"ध्रुव, क्या तू भी इसी मुकुट के लिए मेरे साथ झगड़ा करेगा?" मुकुट को धरती पर फेंक दिया। एक मोती का बड़ा दाना टूटकर गिर पड़ा।

ध्रुव ने हौसले के साथ हाथ बढ़ाकर कर कहा—मैं लूँगा।

राजा ने ध्रुव के सिर पर मुकुट रखकर और उसे गोद में बैठाकर कहा—यह लो, मैं किसी के साथ झगड़ा करना नहीं चाहता।

उन्होंने बड़े चाव से ध्रुव को छाती से लगा लिया। इसके बाद सारा दिन "यह केवल मेरे पाप का फल है" कहकर राजा अपनी आत्मा के साथ विवाद करने लगे। पाप का उदय हुए बिना भाई कभी भाई के ऊपर आक्रमण नहीं कर सकता। इसी बात को मन में मानकर उन्हें कुछ धैर्य हुआ। उन्होंने

मान लिया कि यह ईश्वर की प्रेरणा है। ईश्वरके दरबार से ऐसा ही आज्ञा हुई है। नक्षत्रराय का क्या सामर्थ्य है कि उस आज्ञा का उल्लङ्घन कर सके। यहा मान कर उनके टूटे हृदय को कुछ सन्तोष मिला। वे अपने ही माथे पाप चढ़ाने को राज़ी हैं। इससे नक्षत्रराय के ऊपर से मानो कितने ही पाप का भारटल गया।

बिल्वन ठाकुर ने आकर कहा—यह समय क्या आकाश की ओर देखकर सोचने का है ?

राजा ने कहा—ये सब मेरे पाप के फल हैं।

बिल्वन ने कुछ रुष्ट होकर कहा—महाराज, इन बातों के सुनने से मैं अधीर हुआ जाता हूँ। यह किसने कहा है कि दुःख पाप का ही फल है ? धर्म का फल भी दुःख में हो सकता है। कितने ही धर्मात्माओं ने दुःख में ही अपनी जीवन बिताया है। धर्म का फल सुख नहीं है। धर्म का फल धर्म ही है।

राजा ने इसका कुछ जवाब न दिया।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—महाराज ने क्या कुछ पाप किया था, जिससे यह घटना हुई है ?

राजा ने कहा—अपने भाई को देश से निकाल दिया था।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—आपने अपने भाई को नहीं निकाला बल्कि अपराधी को निर्वासित किया है।

राजा—दोषी होने पर भी भाई को निकालने का पाप अवश्य है। उस पाप का फल कुछ न कुछ अवश्य ही होगा। यद्यपि दुर्योधन आदि दुराचारी थे तथापि उन्हें मारकर पाण्डव राज्य को सुख और शान्तिपूर्वक नहीं भोग सके। पीछे यज्ञ करके उन्होंने उस पाप का प्रायश्चित किया। पाण्डवों ने लड़कर जीते जी कौरवों का राज्य प्राप्त कर लिया और कौरवों ने मर के ही पाण्डवों का राज्य हरण किया, अर्थात् बन्धु-वियोग से व्यथित होकर पाण्डव राज्य का उपभोग न कर सके। मैंने नक्षत्र को निकाला है, अब वह मुझको निकालने आ रहा है।

बिल्वन—पाण्डवों ने पाप की शान्ति के लिए कौरवों के साथ युद्ध नहीं किया था। उन लोगों ने तो राज्य पाने के लिए ही युद्ध ठाना था। किन्तु महाराज ने पाप को शान्त करने के लिए अपने सुख-दुःख का कुछ विचार न करके धर्म का पालन किया है। इसमें पाप की बात तो मैं कुछ भी नहीं देखता। यदि आप इसे पाप ही समझते हों तो प्रायश्चित की व्यवस्था देने में मुझे कोई उज्र नहीं। मैं ब्राह्मण हूँ। मुझे सन्तुष्ट कर देने से ही पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा

राजा मुसकुरा कर चुप हो रहे।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—जो हो-अभी युद्ध की तैयारी कीजिए। अब बिलम्ब करना ठीक नहीं।

राजा ने कहा—मैं युद्ध न करूँगा।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—यह कैसे होगा? आप बैठे-बैठे

सोचा करें। मैं अभी सेना-संग्रह करने जाता हूँ। इस समय सब प्रजा अपने-अपने खेत पर गई है। अभी पूरे तौर से सैनिकों का मिलना कठिन है—यह कह कर किसी उत्तर की प्रतीक्षा बिना ही बिल्वन ठाकुर चले गये।

न जाने एकाएक ध्रुव के मन में क्या हो आया कि उसने राजा के पास आकर और उनके मुँह की ओर देखकर पूछा—काका कहाँ हैं?

राजा ने कहा—काका आ रहे हैं।

राजा की आँखों में आँसू भर आये।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर के सिर पर भारी काम आ पड़ा। उन्होंने चटगाँव के पहाड़ी प्रदेश में भाँति-भाँति के उपहारों के साथ दूत भेजे और कूकी जाति के प्रधान के पास कहला भेजा कि कूकी सेनाओं के द्वारा आप आकर सहायता करें। युद्ध का नाम सुनकर वे लोग ख़ुशी के मारे उछल पड़े। कूकी जाति के जितने लाल (प्रधान) थे, उन सबने युद्ध-संवाद-सूचक हँसुआ लाल कपड़े में लपेटकर दूतों के हाथ गाँव-गाँव में भेज दिया। देखते ही देखते कूकी सेना के दल चटगाँव के पहाड़ से त्रिपुरा के पहाड़ पर आ पहुँचे। उन लोगों को किसी नियम का पाबन्द करके रखना कठिन है। बिल्वन ठाकुर ने

स्वयं त्रिपुरा के गाँव-गाँव में जाकर अच्छे-अच्छ हट्टे-कट्टे साहसी जवानों को चुन-चुनकर सेना में भरती किया। बिल्वन ठाकुर ने आगे बढ़कर मुग़ल सेना पर आक्रमण करना उचित नहीं समझा। उन्होंने यही सोचा कि जब वे लोग समतल भूमि को पार करके कुछ कठिन पहाड़ी रास्ते में आवेंगे तब जङ्गल और पहाड़ के अनेक गुप्त स्थानों से एकाएक उन पर आक्रमण करके उन्हें चकित कर डालेंगे। उन्होंने अपनी हार होने की बात सोचकर बड़े-बड़े पत्थरों से नदी का पानी रोक लिया। यह इसलिए कि जब मुग़ल सेना नदी के पास आवेगी तब इसी पानी के द्वारा उसे बहा देंगे।

इधर नक्षत्रराय देश को लूटते हुए त्रिपुरा के पहाड़ी प्रदेश में आ पहुँचे। धान की कटाई ख़तम हो चुकी है। सभी किसान तीर-कमान लेकर लड़ने के लिए तैयार हैं। कूकी सेना उमड़ने पर उतारू हो गई; झरने की जलराशि की तरह अब रोकने पर भी नहीं रुकती।

गोविन्दमाणिक्य ने कहा— युद्ध न करूँगा।

बिल्वन ठाकुर—महाराज, आप यह क्या कह रहे हैं!

राजा—मैं राज्य करने योग्य नहीं। उसी के ये लक्षण दिखाई दे रहे हैं। इसी से प्रजा की श्रद्धा मुझ पर से उठ गई। इसी से अकाल की घोषणा हुई और इसी कारण यह युद्ध की सम्भावना हो रही है। राज्य छोड़ देने के हेतु ये सब भगवान् के आदेश हैं।

बिल्वन ने कहा—ये कभी भगवान् के आदेश नहीं। ईश्वर ने राज्य का भार तुम्हारे हाथ सौंपा है। जितने दिनों तक राज-काज निर्विवाद था उतने दिनों तक तुमने अपने सहज कर्तव्य का पालन किया। जब राज्य का बोझ कुछ भारी हुआ है तब तुम उसे दूर पटककर स्वाधीन होने के लिए,ईश्वर की आज्ञा बताकर, लोगों को भुलावा देते हो और अपने को सुखी करना चाहते हो।

यह बात गोविन्दमाणिक्य के मन में चुभ गई। वे चुप होकर कुछ देर बैठे रहे, तदनन्तर अधीर होकर बोले—मान लो कि मेरी हार हुई और नक्षत्र राय मुझको मारकर राजा हुए तो?

बिल्वन—यदि वास्तव में यही घटना होगी तो महाराज के लिए सोच न करूँगा, किन्तु महाराज यदि अपने कर्तव्य से विमुख होकर भाग जायँगे तो हम लोगों को अवश्य खेद होगा।

राजा कुछ कातर होकर बोले—अपने भाई का रक्तपात करूँ?

बिल्वन—कर्तव्य के आगे भाई-बहन कोई नहीं। कुरुक्षेत्र की लड़ाई के वक्त श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को क्या उपदेश दिया था? याद है?

राजा—तुम्हारा अभिप्राय यही है न कि मैं अपने हाथ में तलवार लेकर नक्षत्रराय को मारूँ?

बिल्वन—हाँ।

ध्रुव ने अचानक आकर बड़ी गम्भीरता से कहा—छिः यह बात न कहो।

ध्रुव खेल रहा था। उन दोनों का वाद-प्रतिवाद सुनकर उसने समझा कि ये आपस में झगड़ रहे हैं। अतएव ऐसे मौक़े पर दोनों को डाँटना ज़रूरी है—यह सोचकर उसने सहसा वहाँ आकर, सिर हिलाकर, कहा—छिः यह बात न कहो।

बिल्वन ठाकुर को उसकी यह बात सुनकर बड़ा हर्ष हुआ। वे हँस पड़े और ध्रुव को गोद में बैठाकर उसका मुँह चूमने लगे। राजा को हँसी न आई। उनको ऐसा लगा मानो हमने उस बालक के मुँह से देववाणी सुनी है। वे संशय-रहित स्वर में बोले—मैंने निश्चय कर लिया है। मैं रक्तपात का प्रसङ्ग न आने दूँगा। मैं युद्ध कदापि न करूँगा।

बिल्वन ठाकुर कुछ देर चुप रहे। आख़िर उन्होंने कहा—यदि महाराज युद्ध करना नहीं चाहते तो और ही काम करें। नक्षत्रराय से मिलकर आप उन्हें युद्ध करने से रोकें।

बिल्वन ठाकुर की इस राय को गोविन्दमाणिक्य ने पसन्द किया।

बिल्वन ठाकुर ने कहा—इस विषय का एक पत्र लिखकर नक्षत्रराय के पास भेजा जाय।

अन्त में यही बात निश्चित हुई।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय सेना-सहित आगे बढ़ने लगे। कहीं कुछ विघ्न न हुआ। त्रिपुरा के जिस गाँव में वे गये वहीं सब लोगों ने राजा मानकर उनका मान किया। पग-पग पर वे राजत्वपद का अनुभव करने लगे। उनकी तृष्णा की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक बढ़ने लगी। वे समझने लगे कि चारों ओर के लम्बे-चौड़े खेत, गाँव, पहाड़ और नदी आदि सब मेरे हैं। उस अधिकार-व्याप्ति के साथ ही साथ वे अपने को बहुत बड़ा प्रतापी मानने लगे। मुग़ल सेना जब जो चाहती थी तभी आप उसके लिए वैसी आज्ञा दे देते थे। नक्षत्र समझते थे कि वे मेरे ही हैं और मेरे राज्य में आ गये हैं। इन लोगों को किसी सुख से वञ्चित करना ठीक नहीं। मुग़ल सेना जब अपने देश को लौटकर जायगी तब हमारी ख़ातिरदारी की, उदारता की और विशेष दानशीलता की बहुत-बहुत प्रशंसा करेगी, और कहेगी—"त्रिपुरा के राजा कुछ ऐसे-वैसे नहीं।" मुग़ल सेना से वाहवाही लूटने के लिए वे हमेशा उत्सुक रहा करते थे। सिपाही लोग नक्षत्रराय के सम्बन्ध में जब किसी तरह का कर्णमधुर सम्भाषण करते थे तब वे पानी पानी हो जाते थे। उन्हें हमेशा इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं पीछे किसी तरह की मेरी शिकायत न हो।

रघुपति ने विस्मित होकर कहा—युद्ध की कोई तैयारी देखने में नहीं आती।

"मालूम होता है, डर गये" कहकर नक्षत्रराय ख़ूब ज़ोर से हँसने लगे।

रघुपति ने हँसने का कोई विशेष कारण नहीं देखा तो भी वह हँसने लगा।

नक्षत्रराय ने कहा— नवाब की सेना लेकर नक्षत्रराय आए हैं, यह कुछ साधारण बात नहीं है।

रघुपति—देखिये, इस बार कौन किसे निर्वासित करता है?

"मैं चाहूँ तो देश निकाले की सज़ा दे सकता हूँ, क़ैद भी कर सकता हूँ और फाँसी भी दे सकता हूँ। क्या करूँगा, अभी कुछ निश्चय नहीं किया है।"—यह कहकर नक्षत्रराय बड़े विज्ञ भाव से ग़ौर करने लगे।

रघुपति—महाराज, आप इतना सोच-विचार न करें। अब भी बहुत वक़्त है, लेकिन मुझे डर है कि कहीं गोविन्द-माणिक्य बिना युद्ध किए ही आपको पराजित न कर दें।

नक्षत्रराय—सो क्योंकर होगा?

"गोविन्दमाणिक्य अपनी सेना को किसी जगह छिपा रक्खेंगे और विशेष रूप से भ्रातृस्नेह दिखला कर आपको गले लगाकर कहेंगे—'मेरे छोटे भैया, चलो, घर चलो; चलकर मक्खन-मिश्री खाओ।' तब महाराज रोकर कहेंगे—'जो आपकी आज्ञा. मैं अभी चलता हूँ। देर करने की ज़रूरत क्या।' यह कहकर तुरन्त नागोरी जूते पहन कर भाईजी के पीछे-पीछे सिर नीचा करके टट्टू की तरह चल देंगे। बादशाह

की मुग़ल सेना यह तमाशा देखकर हँसते-हँसते घर लौट जायगी।"

रघुपति के मुँह से यह उत्कट परिहास सुनकर नक्षत्रराय बड़े ही अधीर हुए। हँसने की चेष्टा की, पर हँस न सके। उन्होंने कहा—क्या उन्होंने मुझे छोटा सा बच्चा समझ रक्खा है जो इस तरह ठग लेंगे। ऐसा कभी न होने पावेगा।

उसी दिन गोविन्दमाणिक्य की चिट्ठी लेकर एक दूत नक्षत्र-राय के ख़ेमे में आ पहुँचा। वह चिट्ठी रघुपति के हाथ लगी। उसने उसे खोलकर पढ़ा। राजा (गोविन्दमाणिक्य) ने विशेष प्रेम-भाव प्रकट करके भेंट के लिए प्रार्थना की है। रघुपति ने नक्षत्रराय को चिट्ठी न देखने दी। उसने दूत को यह कहकर विदा कर दिया कि गोविन्दमाणिक्य को कष्ट उठाकर इतनी दूर आने की ज़रूरत नहीं। महाराज नक्षत्रराय अपनी सेना और तलवार लेकर शीघ्र ही उनसे मिलेंगे। इतने ही थोड़े समय में मानो भाई की जुदाई से वे अधिक अधीर होगये हैं। आठ वर्ष तक इनकी जुदाई को वे कैसे सहन करते ?

रघुपति ने नक्षत्रराय से जाकर कहा—गोविन्दमाणिक्य ने अपने निर्वासित छोटे भाई को एक अत्यन्त प्रेमपरिपूर्ण पत्र भेजा है।

नक्षत्रराय ने बड़ी अवहेला का भाव व्यञ्जित करते हुए हँसकर कहा—"क्या सचमुच चिट्ठी भेजी है ? कहाँ है ? देखें।" चिट्ठी लेने के लिए उन्होंने हाथ बढ़ाया।

रघुपति—मैंने वह पत्र महाराज को दिखलाना आवश्यक नहीं समझा। पत्र पढ़कर उसी वक्त उसे फाड़कर फेंक दिया और उनके दूत से कह दिया कि लड़ाई के सिवा इसका और कोई जवाब नहीं।

नक्षत्रराय ने ज़रा हँस कर कहा—तुमने कहा है, लड़ाई के सिवा इसका और कोई जवाब नहीं! अच्छा जवाब कहला भेजा है।

रघुपति—यह उत्तर सुनकर गोविन्दमाणिक्य सोचेंगे कि जब राज्य से निकाल दिया था तब तो मेरा भाई बड़े ही सीधे तौर से चला गया था किन्तु वही भाई घर लौट आने के वक्त आज भारी बखेड़ा कर रहा है।

"हाँ, अब समझेंगे कि मेरा भाई साधारण मनुष्य नहीं है। जब जी चाहेगा निकाल देंगे और जब जी में आवेगा बुला लेंगे सो अब न होगा।"—यह कह कर नक्षत्रराय बड़ी ख़ुशी के साथ हँसने लगे।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय का कोरा जवाब सुनकर गोविन्दमाणिक्य बड़े ही मर्माहत हुए। बिल्वन ठाकुर ने मन में सोचा कि महाराज अब युद्ध में असम्मति प्रकट न करेंगे। किन्तु गोविन्दमाणिक्य ने कहा—यह बात नक्षत्रराय की कही हुई नहीं है। यह बात

उस पुरोहित ने कहला भेजी है। नक्षत्र के मुँह से ऐसी बात कभी नहीं निकल सकती।

बिल्वन—महाराज की राय अब क्या होती है?

राजा—मैं नक्षत्र को किसी तरह एक बार देख लेता तो सब बखेड़ों को ठण्डा कर देता।

बिल्वन—अगर भेंट न हो?

राजा—तो मैं राज्य छोड़कर चला जाऊँगा।

बिल्वन—अच्छा, मैं एक बार कोशिश करके देखता हूँ।

पहाड़ के ऊपर नक्षत्रराय का ख़ेमा खड़ा है। चारों ओर घना जङ्गल है। कहीं बाँस का, कहीं बेत का और कहीं सरकण्डे का वन है। धरती अनेक प्रकार के पौधों और लताओं से ढकी है। जङ्गली हाथी आदि जानवरों के चलने के रास्ते को लक्ष्य करके सैन्यगण जैसे-तैसे बड़े कष्ट से पहाड़ पर चढ़ आये हैं। थोड़ा सा दिन बाक़ी है। सूर्य भगवान् पहाड़ के पच्छिमी भाग में उतर आये हैं। पूर्व के भाग में छाँह रहने के कारण अँधेरा सा हो गया है। सूर्य अस्त होने के समय के धुँधलेपन और वृक्षों की छाँह ने मिलकर असमय में ही जङ्गल के भीतर साँझ कर दी है। जाड़े के दिनों में, शाम के वक़्त, जैसे धरती से कुहरा उठता है उसी तरह धरती से भाप निकल रही है। झिल्लियों की झनकार से निःस्तब्ध वन शब्दायमान होने लगा है। बिल्वन जब ख़ेमे में पहुँचे तब सूर्यास्त हो चुका था; किन्तु पच्छिम की ओर

आकाश में सुनहरी लकीरें अभी तक कुछ-कुछ दिखाई दे रही हैं। पच्छिम ओर समतल पहाड़ी भूमि में जो घना श्यामल वन है वह, उन सुनहरी लकीरों की छाया पड़ने से, हरे रङ्ग के स्थिर समुद्र की तरह देख पड़ता है। मुग़ल सेना कल तड़के यहाँ से आगे बढ़ेगी। सेना के एक दल और सेनापति को साथ लेकर रघुपति रास्ता ढूँढ़ने बाहर गया है, अभी तक लौटा नहीं। यद्यपि रघुपति के परोक्ष में भी नक्षत्रराय के पास अन्य को न जाने देने की सख़्त ताकीद थी तथापि संन्यासी जानकर बिल्वन को किसी ने नहीं रोका। बिल्वन ने नक्षत्रराय के पास जाकर और यह कहकर कि महाराज गोविन्दमाणिक्य ने आपको यह पत्र लिखकर स्मरण किया है, नक्षत्रराय के हाथ में पत्र दिया। नक्षत्रराय ने थर-थराते हुए हाथ से पत्र लिया। पत्र खोलते समय उन्हें लज्जा और भय होने लगा। गोविन्दमाणिक्य और उनके बीच में व्यवधान होकर जितनी देर तक रघुपति खड़ा रहता था उतनी देर तक वे सर्वथा निश्चल रहते थे; मानो अब वे किसी तरह गोविन्दमाणिक्य को देखना नहीं चाहते। गोविन्दमाणिक्य का यह दूत एकदम नक्षत्रराय के सामने आकर खड़ा हो गया। इस कारण वे लज्जित हो गये और मन ही मन कुछ कुढ़े भी। उनके मन में आया कि अगर रघुपति वहाँ मौजूद होता तो हर्गिज़ इस दूत को मेरे पास न आने देता। देर तक मन में सोच-विचारकर आख़िर पत्र खोला। गोविन्द-

माणिक्य ने उन्हें भर्त्सना की एक बात भी नहीं लिखी। उस पत्र में एक बात भी उनको लजानेवाली नहीं। गोविन्द-माणिक्य ने उन पर ज़रा भी ज़ोर ज़ाहिर नहीं किया। नक्षत्र-राय जो सैन्य लेकर उन पर आक्रमण करने आ रहे हैं—इस बात की कहीं चर्चा तक नहीं। दोनों भाइयों में पहले जिस प्रकार का भाव था मानो वही भाव अब तक वैसा ही बना है। सारे पत्र में केवल गहरे स्नेह और गहरे विषाद का भाव भरा है। स्नेह और विषाद में किसकी मात्रा अधिक है, यह उन्हें स्पष्ट रूप से नहीं जान पड़ता। इन प्रेम-विषाद से भरी बातों से नक्षत्रराय के हृदय में बड़ा धक्का लगा। चिट्ठी पढ़ते-पढ़ते उनके मन का भाव धीरे-धीरे बदलने लगा। हृदय पर जो पत्थर का परदा पड़ा था वह चूर-चूर हो गया। उनके मुँह पर उदासी छा गई, हाथ काँपने लगे, साथ ही साथ चिट्ठी भी काँपने लगी। नक्षत्रराय ने कुछ देर उस चिट्ठी को माथे पर रक्खा, और बार-बार पढ़ा। उस चिट्ठी में जो भाई का आशिर्वाद था वह मानो ठण्डे झरने के जलप्रपात की तरह उनके सन्तप्त हृदय पर गिरने लगा। वे बड़ी देर तक स्तब्ध होकर सायङ्काल की लालिमा से सुशोभित दूरस्थ श्यामल वन-भूमि की ओर एकटक दृष्टि से देखने लगे। चारों ओर शान्तमयी सन्ध्या निश्शब्द शान्त समुद्र की तरह शोभायमान हो रही है। देखते ही देखते उनकी आँखें डबडबा आईं, और बड़े वेग से आँसू बह चले। नक्षत्रराय ने सहसा

लज्जा और पश्चात्ताप से अधीर होकर दोनों हाथों से मुँह ढक लिया और रोकर कहा—मैं यह राज्य नहीं चाहता। भाई साहब मेरे सब अपराधों को क्षमा करके अपने चरणों के निकट शरण दें, मुझे अपने पास रहने दें, मुझे दूर न भगावें।

बिल्वन कुछ न बोले। चुपचाप बैठे हुए स्निग्ध हृदय से और स्नेहभरी आँखों से उनका मुँह देखते रहे। आखिर जब नक्षत्रराय कुछ देर में प्रकृतिस्थ हुए तब बिल्वन ने कहा—गोविन्दमाणिक्य आपकी प्रतीक्षा में बैठे हैं, चलकर उनसे मिलिए। अब विलम्ब न कीजिए।

नक्षत्रराय ने कहा—क्या वे मुझे क्षमा करेंगे?

बिल्वन--युवराज के ऊपर वे तनिक भी अप्रसन्न नहीं हैं। अधिक रात बीतने से रास्ते में कष्ट होगा। एक घोड़ा ले लिया जाय। पहाड़ के नीचे महाराज के आदमी आपको ले चलने के लिए खड़े हैं।

नक्षत्रराय--मैं छिपकर जाऊँगा। सेना पर यह बात प्रकट न होने दूँगा। अब देर करने का प्रयोजन क्या? जितना ही जल्द यहाँ से निकल पड़ें उतना ही अच्छा है।

बिल्वन--बहुत ठीक।

"मैं तीन-मूड़ा पहाड़ पर संन्यासी के साथ शिवजी की पूजा करने जाता हूँ" यह कहकर नक्षत्रराय घोड़े पर चढ़े और संन्यासी के साथ विदा हुए। नौकरों ने साथ जाना चाहा पर नक्षत्रराय ने उन्हें मना कर दिया।

नक्षत्रराय अभी बाहर हुए ही थे कि इतने में ही घोड़ों की टापों और सेना के आने की आहट मिली। नक्षत्रराय बड़े ही लज्जित हुए। देखते ही देखते रघुपति सेना के साथ आ पहुँचा। आते ही उसने विस्मित होकर पूछा—"महाराज, कहाँ जा रहे हैं ?" नक्षत्रराय कुछ जवाब नहीं दे सके।

उनको चुप देखकर बिल्वन ने कहा—महाराज गोविन्द माणिक्य से भेंट करने जाते हैं।

रघुपति ने बिल्वन को एक बार सिर से पैर तक देखा, भौंहें सिकोड़ीं, तदनन्तर अपने को सँभालकर कहा—आज ऐसे बेवक़्त हम लोग अपने महाराज को जाने नहीं देंगे। इतना आतुर होने का प्रयोजन क्या ? कल सवेरे ही चले जायँगे। महाराज की क्या इच्छा है ?

नक्षत्रराय ने धीरे से कहा—हाँ कल सवेरे ही जाऊँगा। आज तो रात हो गई।

बिल्वन ठाकुर निराश होकर लौटे और उस रात को उन्हीं लोगों के साथ ख़ेमें में रहे। सवेरा होने पर नक्षत्रराय के पास जाना चाहा तो पहरेदारों ने रोक दिया। उनके ख़ेमे के चारों ओर पहरा है; किसी ओर से जाने का रास्ता नहीं। आख़िर रघुपति के पास जाकर उन्होंने कहा—जाने का समय हो गया, युवराज को ख़बर दीजिए।

रघुपति—महाराज नहीं जायँगे। वे निश्चय कर चुके हैं।

बिल्वन—मैं उनसे एक बार मिलना चाहता हूँ।

रघुपति--भेंट नहीं होगी। उन्होंने कहला भेजा है।

बिल्वन--महाराज गोविन्दमाणिक्य के पत्र का उत्तर मिलना चाहिए।

रघुपति--पत्र का उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है।

बिल्वन--मैं उनके मुँह से उत्तर सुनना चाहता हूँ।

रघुपति--इसका कोई उपाय नहीं है।

बिल्वन ठाकुर समझ गये कि समय बिताने और वाक्य-व्यय करने के सिवा कुछ फल न होगा। उन्होंने चलते वक्त रघुपति से कहा--ब्राह्मण, क्या तुम सर्वनाश करना चाहते हो? यह ब्राह्मणों का काम नहीं है।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर जब नक्षत्रराय के खेमे से लौट आये तब उन्होंने देखा कि राजा ने बहुत कुछ धन देकर कूकी जाति की सेना को विदा कर दिया है। लड़ाई में विलम्ब होते देख वे लोग देश में जहाँ-तहाँ उपद्रव करने लग गये थे। त्रिपुरा की सेना भी राजा के आज्ञानुसार अपने-अपने घर चली गई। युद्ध की कोई तैयारी देखने में न आई। बिल्वन ने वहाँ का सब हाल राजा से कहा।

राजा ने कहा—मैं अब विदा होता हूँ। नक्षत्र के लिए राज्य और धन छोड़े जाता हूँ।

बिल्वन—तुम असहाय प्रजा को दूसरे के हवाले करके भागना चाहते हो। इस तरह भाग जाने की सलाह मैं, प्रसन्न मन से, कभी नहीं दे सकता। माता अपने पुत्र को सौत के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त होना चाहे, यह भला सम्भव है ?

राजा—तुम्हारी बात मेरे हृदय में चुभ जाती है। क्षमा करो। मुझसे अब और कुछ न कहो। मुझको अपने सिद्धान्त से विचलित करने का प्रयत्न न करो। तुम जानते हो, मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं रक्तपात न करूँगा। मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग नहीं कर सकता।

बिल्वन—तो महाराज अब क्या करना चाहते हैं ?

राजा—सुनो, मैं तुमको सब सुनाता हूँ। मैं ध्रुव को साथ लेकर जङ्गल में जाऊँगा। मेरा जीवन बिलकुल अधूरा रहा। मैंने जो-जो काम करने का विचार किया था, अभी तक कुछ न कर सका। जीवन का जितना भाग बीत गया है वह किसी प्रकार लौट नहीं सकता। मैं समझता हूँ

अदृष्ट ने हम लोगों को तीर की तरह फेंक दिया है। यदि एक बार भी लक्ष्य-भ्रष्ट हुए तो फिर हज़ार उपाय करने पर भी लक्ष्य की ओर लौट नहीं सकते। मैं जीवन के प्रारम्भ-काल में लक्ष्य-भ्रष्ट हुआ था, इस कारण जीवन का लक्ष्य अब ढूंढ़े भी मुझे नहीं मिलता। जिस समय जागकर मैं अपनी रक्षा कर सकता था उस समय मैं अचेत पड़ा था। अब डूबने पर होश हुआ है। समुद्र में गिर जाने पर लोग जिस

तरह लकड़ी का सहारा लेते हैं उसीतरह मैं बालक ध्रुव का सहारा लेना चाहता हूँ ध्रुव की सहायता से ही मैं किनारे लगूँगा। मैं पहले से ही उसे मनुष्य बनाने की चेष्टा करूँगा और उसी के साथ अपना भी सुधार करके मनुष्य-जन्म को सार्थक करूँगा। परमहंसजी, मैं अभी तक मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं हूँ, राजा होकर क्या करूँगा!

राजा ने अन्तिम वाक्य बड़े ही आवेग के साथ कहा जिसे सुनकर ध्रुव ने राजा के घुटने पर अपना माथा रगड़कर कहा—मैं लाजा।

बिल्वन ठाकुर ने हँसकर ध्रुव को अपनी गोद में बैठा लिया। बड़ी देर तक उसके मुँह की ओर देखकर राजा से कहा—वन में क्या कभी मनुष्य मनुष्यत्व को प्राप्त हो सकता है? वन में एक-मात्र पौदे ही, पाले जाने पर, उन्नति पा सकते हैं। मनुष्यों के ही समाज में रहकर मनुष्य सुधर सकता है।

राजा ने कहा—मैं जङ्गल में केवल इसीलिए जाता हूँ कि जन-समाज से कुछ अलग रहूँ। जन-समाज से सर्वथा सम्बन्ध न त्यागूँगा। यह नियम भी थोड़े ही दिनों के लिए समझो।

इधर नक्षत्रराय सेना-सहित राजधानी के समीप आ पहुँचे। प्रजा का अन्न-धन लूटा जाने लगा। इस तरह सताये जाने पर प्रजा गोविन्दमाणिक्य को ही कोसने लगी। उन लोगों ने कहा—ये सब उपद्रव राजा के पाप से हो रहे हैं।

राजा ने एक बार रघुपति को बुलाकर भेंट करना चाहा। वह आ गया। राजा ने कहा—प्रजा को व्यर्थ क्यों सताते हो! मैं नक्षत्रराय के लिए राज्य छोड़ कर जाता हूँ। मुग़ल सेना को विदा करदो।

रघुपति ने कहा—जो आज्ञा; आप जिस वक़्त राजधानी छोड़कर विदा होंगे उसी वक़्त मैं मुग़ल सेना को विदाकर दूँगा। मैं त्रिपुरा को लूटना नहीं चाहता।

राजा ने उसी दिन राजधानी छोड़कर अन्यत्र जाने का उद्योग किया, अपने राजकीय वेष को बदल डाला, गेरुए कपड़े पहिन लिये। नक्षत्रराय को एक बहुत बड़ा आशीर्वाद-पत्र लिखा; राजाओं के कर्तव्य को बहुत सी बातें लिखीं। फिर ध्रुव को गोद में बैठाकर पूछा—तुम मेरे साथ वन चलोगे?

ध्रुव ने तुरन्त राजा के गले से लिपटकर कहा—हाँ चलूँगा?

उसी वक़्त राजा को एकाएक स्मरण हो आया कि ध्रुव को अपने साथ ले जाने के विषय में उसके चचा केदारेश्वर से पूछ लेना आवश्यक है। राजा ने केदारेश्वर को बुलाकर कहा—तुम्हारी सम्मति हो तो मैं ध्रुव को अपने साथ ले जाऊँ?

ध्रुव दिन-रात राजा के ही पास रहता था। अपने चचा के साथ उसका कुछ अधिक मेल-जोल न था। इस कारण राजा के मन में इस बात की आशङ्का न थी कि ध्रुव को हमारे साथ जाने देने में केदारेश्वर कोई आपत्ति करेगा। राजा की बात सुनकर उसने कहा—महाराज, मैं इसके लिए सम्मति कैसे दूँ?

यह सुनकर राजा के होश उड़ गए, मानो एकाएक उन पर वज्र गिरा। वे ज़रा ठहरकर बोले—केदारेश्वर, तुम भी मेरे साथ चलो।

केदारेश्वर—नहीं महाराज, जङ्गल में जाकर रहना मुझे पसन्द नहीं।

राजा ने अधीर होकर कहा—मैं जङ्गल में न रहूँगा मैं धन लेकर नौकरों के साथ बस्ती में रहूँगा।

केदारेश्वर—मैं देश छोड़कर अन्यत्र न जाऊँगा।

राजा ने उससे अब और कुछ कहना उचित न समझ ज़ोर से साँस ली। उनका सारी आशा मिट्टी में मिल गई; एक ही पल में मानो उनके लिए सारी धरती उलट गई।

ध्रुव पास ही प्रसन्नतापूर्वक खेल रहा था। राजा बड़ी देर तक उसकी ओर देखते रहे। मानों उसे आँख भरकर देख ही नहीं पाया।

ध्रुव ने उनको अपनी ओर खींचकर कहा—तुम भी मेरे साथ खेलो।

राजा का सम्पूर्ण हृदय पसीजकर, मानो आँसू होकर, आँखों में भर आया। उन्होंने बड़े कष्ट से आँसू रोके। फिर वे टूटे दिल से बोले—अच्छा, ध्रुव यहीं रहो, मैं अकेला जाऊँगा।

जीवनके अविशिष्ट भाग का एक बड़ा लम्बा कण्टकाकीर्ण मार्ग मानो एक ही पल में बिजली की तरह उनकी आँखों में समा गया।

केदारेश्वर ने ध्रुव का खेल बिगाड़कर और यह कहकर उसका हाथ पकड़कर खींचा—चल, मेरे साथ चल।

ध्रुव ने रोते-रोते कहा—नहीं।

राजा ने चौंककर उसकी ओर मुँह फिराकर देखा। ध्रुव दौड़कर आया। राजा से लिपटकर उसने जल्दी-जल्दी उनके घुटनों के बीच अपना मुँह छिपा लिया। राजा ने ध्रुव को गोद में उठा लिया, उसे छाती से लगाया। उनका विशाल हृदय फटना चाहता था परन्तु छोटे से ध्रुव को छाती में दबा-कर हृदय को ठण्डा किया। वे उसी तरह ध्रुव को छाती में लगाये कमरे में इधर-उधर घूमने लगे। उनके कन्धे पर माथा रखकर ध्रुव बड़े शान्त भाव से पड़ रहा। यात्रा का समय आ गया। ध्रुव राजा की गोद में सो रहा है। निद्रित ध्रुव को धीरे-धीरे अपनी गोद से केदारेश्वर के हाथ में देकर राजा रवाना हो गये।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय ने सेना को साथ लेकर पूर्वी द्वार से क़िले के भीतर प्रवेश किया। इधर गोविन्दमाणिक्य कुछ धन और इने-गिने नौकरों को साथ लेकर पश्चिमी द्वार से क़िले के बाहर हो गये। शहर के लोग शङ्खध्वनि के साथ भाँति-भाँति के बाजे बजाते, जय-जयकार करते हुए, नक्षत्रराय को कुछ आगे

से लाकर हर्ष प्रकट करने लगे। गोविन्दमाणिक्य जिधर से घोड़े पर चढ़े चले जा रहे थे उधर उनका सम्मान करना किसी ने आवश्यक न समझा, वरन् सड़क के प्रान्तवर्ती घरों से स्त्रियाँ बाहर निकल-निकलकर उन्हें गालियाँ देने लगीं। वे समझती थीं कि इन्हीं के पाप से उनके घर में अन्न नहीं; इन्हीं के पाप से उनके बाल-बच्चे भूखों मर रहे हैं। जिन दीन बुढ़ियों को उस भयङ्कर दुर्भिक्ष के समय राजा के यहाँ से प्रतिदिन भोजन मिलता था और स्वयं राजा जिन्हें धीरज दिया करते थे, वे अपने दुबले हाथ उठा-उठाकर राजा को कोसने लगीं। माँ से सिखलाये जाने पर लड़के ताली बजाते हुए राजा के पीछे-पीछे चले। इन बातों पर ध्यान न देकर राजा बराबर आगे की ओर देखते हुए धीरे-धीरे चलने लगे। एक किसान अपने खेत से आरहा था। उसने राजा को देखकर बड़ी आव-भगत से प्रणाम किया। राजा का हृदय द्रवित हो गया। वे घोड़े की बाग रोककर ठहर गये और बोले—भाई मुझे अब यहाँ से आगे बढ़ने दो। राजा की इस अवस्था पर उसे बड़ा दुःख हुआ। उनकी सन्तानवत् प्रजा में से एक इसी किसान ने चलते वक़्त उन्हें भक्ति-पूर्वक प्रणाम किया और बड़ी उदासी से उन्हें विदा किया। राजा के पीछे झुण्ड के झुण्ड लड़के तालियाँ पीटकर हँसी उड़ा रहे थे। यह देखकर उस किसान ने, अत्यन्त क्रुद्ध होकर, उन लड़कों को भगा दिया। राजा ने उसे मना किया। आखिर

सड़क के जिस भाग में केदारेश्वर का घर था उसी ओर राजा आ गये। राजा ने घूमकर दक्खिन ओर देखा कि सवेरा हो गया है। जाड़े का समय है। चारों ओर कुहरा छाया हुआ है। कुहरे को फाड़कर सूर्य की किरणें बाहर निकल पड़ी हैं। केदारेश्वर के घर की ओर देखकर राजा को पार-साल के आषाढ़ महीने का वह सवेरा याद आ गया। तब वर्षा का समय था, पानी बरसने का दिन था। द्वितीया के कृश चन्द्र के सदृश वह बालिका (हासी) बेहोश होकर बिछौने के एक प्रान्त में दबी सो रही है। बालक ध्रुव उसकी हालत को कुछ न समझ, उसके आँचल के छोर को मुँह में दबाकर कभी उसके मुँह की ओर देखता है और कभी अपने छोटे-मोटे गोल-गोल हाथ से धीरे-धीरे उसके मुँह को थपथपाता है। राजा को एक-एक करके सभी पुरानी बातें याद आ गईं मानो आज का सवेरा आषाढ़ के उस मेघाच्छन्न प्रातःकाल में छिपा था। राजा के मन में यह भावना हुई कि जो अदृष्ट आज हमें राज्यच्युत और अपमानित करके घर से निकाल कर बाहर लिये जा रहा है, वही अदृष्ट इस छोटे घर के द्वार पर उस आषाढ़ के सवेरे के पहर हमारी बाट देख रहा था। इसी जगह उस अदृष्ट के साथ इनकी पहली भेंट हुई थी। राजा अन्यमनस्क होकर इस घर के सामने कुछ देर ठहर गये। उस वक्त, वहाँ उनके नौकरों के सिवा और कोई आदमी न था। जो लड़के पीछे-पीछे आ रहे थे उन्हें उस किसान ने

भगा दिया था। किन्तु किसान को दूर गया देखकर वे फिर पहुँच गये। उनकी चिल्लाहट से राजा सावधान होकर और एक गहरी साँस लेकर धीरे-धीरे चलने लगे। एकाएक उन लड़कों के शोर गुल में एक सुमधुर परिचित स्वर उनके कानों में आकर प्रविष्ट हुआ। उन्होंने देखा कि ध्रुव दोनों हाथों को ऊपर उठायं हँसते-हँसते उनके पास दौड़ा आ रहा है। केदारेश्वर घर पर नहीं है। वह नये राजा को अपनी भक्ति दिखलाने गया है। घर में सिर्फ़ एक बूढ़ी दासी थी। गोविन्दमाणिक्य झट घोड़े से उतर पड़े। ध्रुव ने उनका दामन पकड़ कर उनके घुटनों के बीच मुँह छिपाया और अपने प्रथम आनन्द के उफान को शान्त करके राजा से कहा—मैं घोले पर चढ़ूँगा। राजा ने उसको घोड़े पर चढ़ा दिया। घोड़े पर चढ़कर वह राजा के गले से लिपट गया। राजा के स्वभाव में एक विलक्षण उलट-फेर देखकर ध्रुव मन ही मन कुछ सोचने लगा। गाढ़ी नींद से जगाने के हेतु लोग जैसे भाँति-भाँति के कौशल करते हैं वैसे ही ध्रुव ने राजा को अपनी ओर खींचकर, उनसे लिपटकर और उनके गाल पर अपना गाल रखकर, उनके भाव को पहले के रूप में ले आना चाहा। अन्त में विफल-प्रयत्न होकर वह अपने मुँह में उँगली डालकर चुप हो रहा। राजा ने ध्रव के हृदय का भाव समझकर बार-बार उसका मुँह चूमा। आख़िर विवश होकर राजा ने कहा—ध्रुव, अब मैं जाता

हूँ। उसने राजा के मुँह की ओर देखकर कहा—मैं भी चलूँगा।

राजा—तुम कहाँ जाओगे। अपने चचा के पास रहो।

ध्रुव—नहीं मैं तो तुम्हाले साथ चलूँगा।

उसी वक्त वह बुढ़िया घर से निकल कर बड़बड़ाती हुई वहाँ आ पहुँची। वह ज़ोर से ध्रुव का हाथ पकड़कर और उसे खींचकर बोली—चल यहाँ से।

ध्रुव डर गया। वह दोनों हाथों से राजा को पकड़कर उनके बदन से लिपट गया। उसने अपना मुँह उनकी छाती के पास छिपा रक्खा। राजा अधीर होकर मन ही मन सोचने लगे कि हृदय की [प्राण-रत्तक नाड़ियाँ भले हा तोड़ी जा सकती हैं किन्तु इन दोनों हाथों का बन्धन कैसे तोड़ा जा सकता है। आज इसे भी तोड़ना पड़ा। राजा ने धीरे-धीरे ध्रुव के दोनों हाथ छुड़ाकर बलपूर्वक उसे दासी के हवाले कर दिया। ध्रुव रोने लगा और हाथ उठाकर बार-बार कहने लगा—मैं जाऊँगा। राजा ने पीछे की ओर नहीं देखा। झटपट घोड़े पर सवार होकर उन्होंने ज़ोर से घोड़े को दौड़ा दिया। वे आगे बढ़ते हैं परन्तु मानो ध्रुव के रोने का शब्द उन्हें सुन पड़ता है। ध्रुव अपने हाथ उठाकर मानो उन्हें पुकारकर कह रहा है—मैं चलूँगा। राजा की आँखों से आँसू गिरने लगे। उन्हें बाट-घाट अब कुछ नहीं सूझता। मानो सूर्य का प्रकाश और सारा संसार उनके आँसुओं में डूब गया। घोड़ा अपने मन से जाने लगा।

रास्ते में कहीं मुग़ल सेना का एक दल आ रहा था। वह राजा को लक्ष्य करके हँसने लगा, यहाँ तक कि अपने नौकरों के साथ उनका उत्कट उपहास करने लगा। राजा के एक सभासद, उसी रास्ते, घोड़े पर चढ़े कहीं जा रहे थे। वे इस दृश्य को देखकर राजा के पास दौड़े आये। उन्होंने कहा—महाराज, यह अपमान तो मुझसे सहा नहीं जाता। महाराज की दीन दशा देखकर ये लोग ढिठाई करने लग गये हैं। अच्छा, आप मेरी यह तलवार और यह पगड़ी लें। आप कुछ देर यहाँ ठहरने की कृपा करें, मैं अपने लोगों को लाकर अभी इन नराधमों को शिक्षा देता हूँ।

राजा ने कहा—नहीं नयन राय, मुझे तलवार और पगड़ी की कुछ ज़रूरत नहीं। ये लोग मेरा क्या करेंगे। मैं अब इससे भी अधिक अपमान सहने को तय्यार हूँ। मैं हाथ में नङ्गी तलवार लेकर अब इन संसारिक मनुष्यों से आदर पाना नहीं चाहता। संसार के सब साधारण लोग जैसे भले-बुरे समय में मान-अपमान और सुख-दुःख सहा करते हैं वैसे ही मैं भी, जगदीश्वर के भरोसे, सहूँगा। देखो नयनराय, भाई-बन्धु मेरे साथ शत्रुता कर रहे हैं, आश्रितगण कृतघ्नता कर रहे हैं और जो लोग अभी तक सिर नवाते थे वे अब पलक उठाकर मेरी ओर देखते तक नहीं। किसी समय ये बातें मेरे लिए असह्य होतीं किन्तु इस समय इनके सहन करने में ही मुझे सुख मिलता है। जो लोग मेरे हितैषी हैं उन्हें

भी मैं जानता हूँ। जाओ नयनराय, तुम लौट जाओ। नक्षत्रराय को सम्मानपूर्वक आगे से ले आओ। जिस तरह तुम मेरा सम्मान करते थे उसी तरह नक्षत्र का भी सम्मान करना। तुम लोग मिलकर नक्षत्र को अच्छे रास्ते से चलाना और उन्हें प्रजा की भलाई का ध्यान दिलाकर उस की रक्षा करने में सहायता देना। तुम लोगों से विदा होते समय यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है। तुम लोग भ्रम से भी कभी मेरी बातें छेड़कर अथवा मेरे साथ उनकी बराबरी करके उनकी शिकायत न करना। अच्छा तो मैं अब चलता हूँ।

उस सभासद के साथ अङ्कमालिका का व्यवहार करके राजा अग्रसर हुए। सभासद भी उन्हें प्रणाम करके आँसू पोंछता चला गया।

जब राजा गोमती नदी के ऊँचे कछार के निकट जा पहुँचे तब बिल्वन ठाकुर जङ्गल से निकले। राजा के सामने आकर और उँगली उठाकर उन्होंने कहा—जय हो। राजा ने घोड़े से उतरकर उन्हें प्रणाम किया। बिल्वन ठाकुर ने कहा—मैं आप से विदा माँगने आया हूँ।

राजा ने कहा—आप नक्षत्र के पास रह कर उन्हें अच्छी-अच्छी सलाह दें और राज्य का हितसाधन करें।

बिल्वन ने कहा—नहीं, जहाँ आप राजा नहीं वहाँ मैं कुछ करने योग्य नहीं। यहाँ रहकर मैं अब कोई काम न कर सकूँगा।

राजा ने कहा—तो अन्यत्र कहाँ जाइएगा ? मेरे ही ऊपर दया कीजिए। आपको देखते ही मेरे दुर्बल हृदय में बल आ जाता है।

बिल्वन—मैं यही ढूँढ़ने चला हूँ कि मेरा प्रयोजन कहाँ है। मैं आपके पास रहूँ चाहे दूर रहूँ, आपके ऊपर मेरा प्रेम ज्यों का त्यों रहेगा। आप इसे सत्य समझें। आपके साथ वन जा कर मैं किसी का क्या उपकार करूँगा ?

राजा ने कोमल स्वर में कहा—तो मुझे आगे बढ़ने की आज्ञा दीजिए।

राजा ने फिर उन्हें प्रणाम किया। दोनों ने अपनी-अपनी राह ली।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय अपना नाम छत्रमाणिक्य रखकर बड़े समारोह के साथ राजसिंहासन पर बैठ गये। ख़ज़ाने में रुपये अधिक नहीं थे; इस कारण जहाँ तक मिल सका, प्रजा का सर्वस्व हरण करके मुग़ल सैनिकों को प्रतिज्ञात धन देकर विदा किया।

छत्रमाणिक्य दुस्सह दारुण दुर्भिक्ष और दरिद्रता लेकर राज्यशासन करने लगे। चारों ओर प्रजा के रोने कलपने और कोसने की बातें सुनाई देने लगीं।

जिस आसन पर गोविन्दमाणिक्य बैठते थे, जिस पलँग

पर वे सोते थे, जो लोग उनके कृपा-पात्र थे, वे सब चुपचाप मानो छत्रमाणिक्य का अपमान करने लगे। गोविन्दमाणिक्य की सभी चीज़ें उनकी आँखों में खटकने लगीं। उन्होंने धीरे-धीरे अपनी आँखों के सामने से उन चीज़ों को हटाना शुरू किया। गोविन्दमाणिक्य के व्यवहार की जितनी वस्तुएँ थीं, सबको उन्होंने नष्ट कर डाला। गोविन्दमाणिक्य के जो प्रिय नौकर थे, उनको छत्रमाणिक्य ने निकाल बाहर किया। गोविन्दमाणिक्य के नाम का गन्ध तक अब वे सहन नहीं कर सकते। गोविन्दमाणिक्य की चर्चा होते ही उनके कान खड़े हो जाते थे। वे समझते थे कि हमीं को लक्ष्य करके सभासदगण गोविन्दमाणिक्य की चर्चा कर रहे हैं। वे मन ही मन हमेशा सोचा करते थे कि लोग हमें राजा मानकर पूर्ण रूप से सम्मान नहीं करते। इस कारण वे जब-तब लोगों से अकारण बिगड़ बैठते थे। उनके इस अकारण क्रोध से डरकर सभासद कुछ कहने का साहस न करते थे। सभी को भय-भीत होकर रहना पड़ता था। छत्रमाणिक्य राज-काज कुछ न समझते थे। जब कोई उन्हें अच्छी सलाह देने आता था तब वे झट बोल उठते थे--क्या मैं इतना भी नहीं समझता? क्या तुमने मुझे बिलकुल बेवकूफ़ समझ रक्खा है? सलाह देनेवाला अपना सा मुँह लेकर चला जाता था। छत्रमाणिक्य मन ही मन समझते कि सब लोग मुझे राजगद्दी के अयोग्य और राज्यापहारी समझकर मेरी उपेक्षा कर रहे हैं। इससे

चिढ़कर वे बल-पूर्वक बहुत बड़े राजा हो उठे। वे यथेच्छ काम करके सब जगह अपने एकाधिपत्य की घोषणा करने लगे। उनके जी में जब जो आता था, करते थे; जिसको रखना चाहते थे, रखते थे; जिसे मारना चाहते थे, मारते थे। अपनी सत्ता को विशेष रूप से प्रमाणित करने के लिए जिसको रखना उचित नहीं उसे रख लेते थे, और जिसको मारना उचित नहीं उसे मारते थे। किस अपराध में क्या दण्ड देना चाहिए, इसका ज्ञान उन्हें न था। इस कारण छोटे-छोटे अपराधों के लिए वे कठोर दण्ड दे बैठते थे और जिसे कठोर दण्ड देना चाहिए उसे निरपराध प्रमाणित करके छोड़ देते थे। उनके इस अनुचित विचार से सभी लोग दुखी थे। दुर्भिक्ष के कारण प्रजा भूखों मर रही है किन्तु छत्रमाणिक्य के नित्य नये-नये उत्सव होते हैं; कभी उसकी समाप्ति ही नहीं। प्रतिदिन नाच, गान और भोज का आडम्बर रहता है। राज्य का काम नौकरों के ही भरोसे छोड़कर आप दिन-रात जलसे-पार्टी की तैयारी में ही लगे रहते हैं। इसके पहले आज तक किसी राजा ने, सिंहासन पर बैठकर, इस प्रकार राजत्व की पूरी पूँछ पसारकर मयूर की तरह अपूर्व नृत्य नहीं किया था।

प्रजा चारों ओर से अप्रसन्नता प्रकट करने लगी। छत्र-माणिक्य उससे और भी अधिक जल उठे। उन्होंने समझा कि यह केवल राजा के प्रति अभक्ति दिखलाना है। उन्होंने अप्रसन्नता का दुगुना सबब खड़ा करके प्रजा को अनेक प्रकार

के कष्ट दे-देकर और डर दिखला-दिखलाकर ज़बर्दस्ती लोगों के मुँह बन्द कर दिये। सारा राज्य घोर निःस्तब्ध रात की तरह शब्द-रहित हो गया। शान्त स्वभाववाले नक्षत्रराय छत्र-माणिक्य होकर सहसा इस प्रकार का व्यवहार करें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। ऐसे दुर्बल-हृदय मनुष्य प्रभुता पाकर इसी प्रकार उद्धत और यथेच्छाचारी हो जाते हैं। अनेक बार ऐसे दुर्बल-हृदय राजाओं के दुराचार से प्रजा कष्ट पाती है।

रघुपति का उद्देश सफल हो गया। उसके हृदय में बदला लेने की जो बुरी वासना रहती थी वह अब नहीं है। जिस काम में उसने हाथ डाला था उसे पूरा करके छोड़ा, अतएव प्रतिहिंसा का भाव धीरे-धीरे उसके मन से दूर हो गया। वह अनेक कपट-कौशल से सभी विघ्न-बाधाओं को झेलता हुआ एकही साधन में प्रवृत्त होकर मन ही मन लड्डू खा रहा था। आख़िर उसका वह उद्देश सिद्ध हो गया। बस, इससे बढ़कर संसार में उसके लिए अब दूसरा सुख नहीं है।

रघुपति ने अपने मन्दिर में जाकर देखा कि वहाँ कोई नहीं है। वह यद्यपि भली भाँति जानता था कि जयसिंह नहीं है तथापि उसने अभी नया करके जाना कि जयसिंह नहीं है। मानो दो-एक बार उसको ऐसा लगा कि है। इसके बाद फिर स्मरण हो आया कि नहीं है। हवा लगने से एकाएक किवाड़ खुल गये। उसने चौंककर पीछे की ओर घूमकर देखा—जयसिंह तो नहीं आया। उसने सोचा कि

जिस घर में जयसिंह रहता था शायद वह उसी घर में हो। वह बड़ी देर तक यही सोचता रहा। डर के मारे उस घर में न जा सका। आख़िर उसने डरते-डरते उस घर के पीछे की ओर जाकर देखा, जयसिंह वहाँ नहीं है। साँझ होते देख रघुपति साहस कर के धीरे-धीरे जयसिंह के घर में गया। समाधि-घर की तरह वह घर सूना पड़ा है। वहाँ एक तरफ़ एक काठ का सन्दूक़ है। उस सन्दूक़ के नीचे जयसिंह की खड़ाऊँ पड़ी हैं, उन पर धूल जम गई है। दीवार में जयसिंह के हाथ की लिखी काली की मूर्ति है। घर के पूर्वी कोने में एक धातु-निर्मित चिराग़दान पर धातु का ही दिया रक्खा है। बरसों से वह योंही पड़ा है। किसी ने उसे जलाया तक नहीं। मकड़ी के जाले में वह छिप गया है। चिराग़दान के पास दीवार में काला दाग़ लगा है। घर में इन चीज़ों के सिवा और कुछ नहीं है। रघुपति ने ख़ूब ज़ोर से साँस ली। वह साँस घर भर में प्रतिध्वनित हो उठी। अँधेरा हो जाने से अब कुछ दिखाई नहीं देता। एक छिपकली ठहर-ठहरकर टिक्-टिक् शब्द करने लगी। खुले हुए द्वार से घर के भीतर ठण्डी-ठण्डी हवा आने लगी। सन्दूक़ के ऊपर बैठकर रघुपति काँपने लगा।

रघुपति ने इस शून्य मन्दिर में इसी तरह एक महीना बिताया। किन्तु इस प्रकार वह अधिक दिन नहीं बिता सका। उसने पुरोहिती छोड़ ही दी है। एक दिन उसने राजसभा में जाकर राज्यशासन के कामों में हस्तक्षेप किया। देखा

कि अविचार, अत्याचार और अशान्ति ये तीनों, छत्रमाणिक्य नाम धारण करके, राज्य कर रहे हैं। वह राज्य में शान्ति-स्थापन करने का प्रयत्न करने लगा। छत्रमाणिक्य को सलाह देने गया। छत्रमाणिक्य बोल उठे—रघुपति, तुम राजकाज का हाल क्या जानो, इन बातों को तुम क्या समझोगे?

राजा की प्रचण्डता देखकर रघुपति अवाक् हो गया। उसने देखा कि अब वे नक्षत्रराय नहीं है। रघुपति के ऊपर राजा की अप्रसन्नता क्रमशः बढ़ने लगी। छत्रमाणिक्य यह समझकर कि रघुपति मन में यही सोचता होगा कि उसी ने मुझे राजा बनाया है, बहुत चिढ़े। रघुपति को देखते ही वे भौंहें सिकोड़ते थे। आख़िर एक दिन उन्होंने साफ़-साफ़ कह दिया—पुरोहितजी, तुम अपने मन्दिर का काम जाकर देखो, राजसभा में तुम्हारा कोई काम नहीं।

रघुपति ने अङ्गार की सी तीव्र दृष्टि से छत्रमाणिक्य की ओर देखा। छत्रमाणिक्य मुँह फेरकर वहाँ से चले गये।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

नक्षत्रराय ने जिस दिन राजधानी में प्रवेश किया उसी दिन केदारेश्वर उनके पास हाज़िरी देने गया; परन्तु वह बहुत उद्योग करने पर भी उनके सामने नहीं जा सका। पहरेदारों के धक्के खाते-खाते उसका नाक में दम आ गया। आख़िर

वह जान लेकर वहाँ से भागा। गोविन्दमाणिक्य के राजत्व-काल में वह यथेष्ट षट्रस भोजन से परितृप्त होकर राज-भवन में आनन्द-पूर्वक रहा करता था। उन दिनों युवराज नक्षत्र-राय के साथ उसका बड़ा मेल-जोल था। इधर कुछ दिनो से राज-भवन का सम्बन्ध छूट जाने से उसे अब अपना जीवन-निर्वाह करना कठिन हो गया है। जब वह गोविन्दमाणिक्य के पाणि-पल्लव की छाया में था तब सब लोग उससे डरते और उसकी इज्जत करते थे। लेकिन अब उसको कोई नहीं पूछता। पहले जब किसी को राजा से कुछ काम आ पड़ता था तब लोग केदारेश्वर के पास आकर उसकी खुशामद करते थे। अब उससे कोई बात तक नहीं करता, उसकी ओर कोई नज़र उठाकर देखता तक नहीं। इस अपमान के साथ ही साथ भोजन का भी कष्ट होने लगा। वह चाहता है, किसी तरह फिर राज-भवन में मेरी पैठ हो जाय; राज-भवन के सम्बन्ध से फिर मुझे पूर्ववत् आराम मिलेगा।

एक दिन वह यथावसर कुछ भेंट लेकर दरबार में छत्रमाणिक्य से मिलने गया। वह अपनी बेहद प्रसन्नता प्रकट कर हँसता हुआ बड़ी उमङ्ग के साथ राजा के सामने आकर खड़ा हुआ। उसको देखते ही राजा जल उठे। उन्होंने कहा—यह हँसी कैसी? तुम मेरे साथ दिल्लगी करने आये हो?

सभा में जितने लोग बैठे थे सभी ने उसे ललकारा।

केदारेश्वर की विकसित दन्त-पंक्ति पर उसी घड़ी यवनिका-पात हुआ। उसने अपना मुँह बन्द कर लिया।

छत्रमाणिक्य ने कहा—तुमको जो कुछ कहना है सो शीघ्र कहकर चले जाओ।

केदारेश्वर को जो कहना था सो बिलकुल भूल गया। उसने कई दिनों से जो कुछ कहने को सोच रक्खा था वह उसके पेट में ही रह गया। जब राजा ने फिर कहा—अगर तुझे कुछ कहना नहीं है तो यहाँ से जा; तब उसने झटपट कुछ कहना आवश्यक समझा। वह आँखों में, मुँह में और कण्ठस्वर में सहसा पूर्ण रूप से करुणरस भरकर बोला—महाराज, क्या आप ध्रुव को भूल गये?

यह सुनते ही छत्रमाणिक्य क्रोध के मारे आग-बबूला हो उठे। मूर्ख केदारेश्वर ने उनका भाव न समझकर फिर कहा—वह काका, काका, कहकर महाराज के लिए अब भी रोया करता है।

छत्रमाणिक्य ने कहा—तुम्हारी शेख़ी तो कुछ कही नहीं जाती। तुम्हारा भतीजा मुझे काका कहता है! तुमने उसे यही शिक्षा दी है?

केदारेश्वर भयभीत हो हाथ जोड़कर बोला—महाराज—

छत्रमाणिक्य ने कहा—कोई है? इसको और उस लड़के को अभी मेरे राज्य से निकालकर बाहर कर दे।

एकाएक केदारेश्वर के गले पर पहरेदारों के इतने हाथ आ

पड़े कि वह तीर की तरह एकदम बाहर जा गिरा। पहरेदारों ने उसके हाथ से उपहार का डाला लेकर आपस में बाँट लिया। केदारेश्वर ध्रुव को लेकर उसी घड़ी त्रिपुरा से विदा हुए।

चालीसवाँ परिच्छेद

रघुपति फिर मन्दिर में लौट आया। उसने आकर देखा कि अब कोई प्रेमपरिपूर्ण हृदय से कपड़े इत्यादि लेकर मेरी अपेक्षा नहीं करता। पत्थर का मन्दिर मौजूद है। उसके भीतर कहीं चैतन्य का गन्धमात्र नहीं। वह गोमती नदी के किनारे सफेद पत्थर की सीढ़ी पर जा बैठा। सीढ़ी के वाम भाग में जयसिंह के हाथ के रोपे हरसिंगार के पेड़ में असंख्य फूल फूले हैं। इन फूलों को देखकर उसे जयसिंह का सुन्दर मुँह, स्वच्छ हृदय और कौटिल्यरहित जीवन याद आने लगा। सिंह के सदृश प्रबल पराक्रमी तथा हिरन के बच्चे के सदृश भीरु जयसिंह का ध्यान रघुपति के हृदय में हो आया। जयसिंह ने रघुपति के सारे हृदय पर अधिकार जमा लिया। इसके पहले वह जयसिंह की अपेक्षा अपने को विशेष ज्ञानी समझता था। अब वह अपनी अपेक्षा जयसिंह को ही बहुत विज्ञ मानने लगा। उसके ऊपर जो जयसिंह की निश्छल भक्ति थी, उसका स्मरण करके जयसिंह पर उसे अत्यधिक श्रद्धा और अपने ऊपर अश्रद्धा उत्पन्न हुई! जयसिंह के साथ

उसने जो अनेक अशिष्ट व्यवहार किये थे उन्हें याद करके उसका कलेजा फटने लगा। उसने मन ही मन कहा—हाय! किस योग्यता के बिरते मैंने जयसिंह का अपमान किया? मैं इस योग्य कदापि नहीं कि जयसिंह का अपमान करूँ। यदि जयसिंह क्षणमात्र के लिए एक बार दिखाई देते तो मैं अपना दोष स्वीकार करके उनसे क्षमा माँगता।

जयसिंह की सभी बातें उसे याद आने लगीं। उसके हृदय में जयसिंह का सारा जीवन विराजने लगा। वह जयसिंह के उदार चरित्र की भावना करता हुआ, विदेह भाव धारण कर, सारे झगड़े-बखेड़ों को भूल गया। संसार का एक बड़ा बोझ, जो उसके माथे चढ़ा था और जो उसे दिन-रात दबा रहा था, मानो उसके माथे से अब अलग जा गिरा। जिस नक्षत्र-राय को उसने राजा बना दिया है और जो नक्षत्रराय राजा होकर आज उसी का अपमान कर रहा है—इसे याद करके उसके मन में अब ज़रा भी क्रोध उत्पन्न नहीं होता। अब वह मान-अपमान को बराबर समझता है। मान-अपमान की बातों पर उसे हँसी आती है। अब वह कोई ऐसा काम करना चाहता है जिससे जयसिंह की आत्मा भली भाँति सन्तुष्ट हो। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, कोई काम सूझ न पड़ा। चारों ओर शून्य ही शून्य दिखाई दे रहा है। इस शून्य-मन्दिर ने तो मानो उसे दबा डाला, मानो उसकी साँस बन्द कर दी। वह कोई बड़ा काम करके अपने

हृदय की यातना मिटाना चाहता है किन्तु इस शून्य-मन्दिर की ओर देखकर पिंजरे में बन्द चिड़िया की तरह उसका हृदय अधीर हो उठा।

वहाँ से उठकर वह मन्दिर के समीपवर्ती उपवन में व्यग्र-चित्त हो कर घूमने लगा। मन्दिर के भीतर की निश्चेष्ट निर्जीव मूर्त्तियों पर उसको बड़ी ही घृणा उत्पन्न हुई। उसे अब इन पत्थर की मूर्त्तियों की सेवा में समय बिताना व्यर्थ जान पड़ा। जब रात दोपहर के लगभग बीती तब रघुपति ने चकमक पत्थर से आग बनाकर एक चिराग़ जलाया। चिराग़ को हाथ में लेकर वह मन्दिर में गया। भीतर जाकर उसने देखा कि चौदहों देवता समान भाव से खड़े हैं। पारसाल आषाढ़ की कालरात्रि में, दिये की धुँधली रोशनी में, भक्त के मृत-कलेवर के सम्मुख, रक्त-स्रोत के बीच वे ज्ञानहीन अचेतन की तरह जिस प्रकार खड़े थे उसी प्रकार आज भी खड़े हैं। रघुपति ज़ोर से बोल उठा—झूठ, सब झूठ! हा प्यारे जयसिंह! तुमने अपने अमूल्य हृदय का रक्त किसे अर्पित किया? यहाँ कोई देवता नहीं, कोई देवता नहीं। इस पिशाच रघुपति ने ही उस लोहू को पी लिया।

अब उसने काली की मूर्त्ति को आसन पर से खींचकर उठा लिया, और मन्दिर के द्वार पर खड़े होकर ज़ोर से दूर फेंक दिया। अँधेरे में वह पत्थर की मूर्त्ति, पत्थर की सीढ़ियो पर से, शब्दपूर्वक लुढ़कती-पुढ़कती गोमती के जल में

जा गिरी। जो अविद्या राक्षसा पत्थर का स्वरूप धारण किये इतने दिनों से रक्तपान करती आती थी वह आज गोमती के गर्भस्थ हज़ारों पत्थर के टुकड़ों में जा मिली। किन्तु उसने मनुष्यों के कठिन हृदयरूपी आसन का परित्याग न किया। रघुपति दीपक बुझाकर, मन्दिर के बाहर निकलकर, रास्ते में आया। वह उसी रात को राजधानी छोड़कर चल दिया।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

बिल्वन ठाकुर कुछ दिनों से नवाखाली ज़िले के अन्तर्गत निज़ामपुर में ठहरे हैं। वहाँ भयङ्कर रूप से हैज़ा फैला हुआ है। फागुन के अन्त में एक दिन बादल घिर आये। दिन भर आसमान में मेघ छाये रहे। बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा पानी भी बरस जाता था। आख़िर शाम को पानी बरसने लगा। पहले पूर्वी हवा बह रही थी, फिर रात के दूसरे पहर उत्तर और ईशान कोण की हवा बड़े वेग से बहने लगी। साथ ही साथ पानी बरसने लगा। बड़ी देर तक ज़ोर-शोर से पानी बरस जाने पर झड़ी कुछ कम हुई। उसी वक़्त हल्ला मचा कि बाढ़ आ रही है। कोई घर के छप्पर पर जा चढ़ा, कोई ऊँचे टीले पर जा खड़ा हुआ; कोई पेड़ पर, और कोई मन्दिर के शिखर पर जा बैठा। रात बिलकुल अँधेरी है। कुछ-कुछ पानी भी बरस रहा है। बाढ़ आने का शब्द भी क्रमशः

लोगों को सुनाई देने लगा। उसे सुनकर गाँव के सभी लोग हतबुद्धि हो गये। देखते ही देखते बाढ़ आ गई। एक बार उसकी तरङ्ग आई, उसके ऊपर तुरन्त ही दूसरी तरङ्ग आई। दूसरी बार की तरङ्ग आते ही गाँव में आठ हाथ खड़ा पानी चढ़ आया। जब सवेरा हुआ, और पानी का वेग कुछ कम हुआ तब सारा गाँव पानी में डूबा हुआ दिखाई देने लगा। गाँव में ऐसे घर बहुत ही थोड़े बच गये थे। जो पानी में बिलकुल नहीं डूबे। लोगों का पता नहीं। अन्यान्य गाँवों से आदमियों और चौपायों की बहुत सी लाशें बह-बहकर आई हैं। आम और कटहल के बड़े-बड़े पेड़ जड़ से उखड़कर अलग पड़े हैं। कितने ही पेड़ पानी में बह गए हैं दीवारें गिर जाने से दूसरे गाँवों के घरों के छप्पर बह आये हैं, वे जहाँ-तहाँ उलटे-पलटे पड़े हैं। कितने ही मिट्टी के बर्तन पानी के ऊपर इधर उधर तैर रहे हैं। गाँव में बहुत से छोटे-छोटे घर ऐसे थे जो बाँस, आम, कटहल और फरहद आदि बड़े-बड़े पेड़ों से घिरे थे। इस कारण कितने ही लोग एकदम न बह कर उन पेड़ों में उलझ रहे। कितने ही लोग सारी रात उस बाढ़ की तरङ्गों में झूमते हुए बाँस को पकड़े उसके साथ बराबर झूमते रहे। किसी का शरीर फरहद के काँटों से छिन्न-भिन्न हो गया है। कितने ही मनुष्य, पेड़ उखड़ जाने पर, उसके साथ ही बह गये हैं। पानी हट जाने पर जो लोग जीते बच गये थे वे नीचे आकर लाशों में अपने लोगों की खोज करने लगे।

बहुत लाशें अपरिचित थीं जो अन्यान्य गाँवों से बहकर आई थीं। उन लाशों का किसी ने अग्नि-संस्कार नहीं किया। झुण्ड के झुण्ड गिद्ध उतर आये और नोच-नोचकर उन मुर्दों को खाने लगे। गीदड़ों और कुत्तों के साथ उनका कोई झगड़ा न रहा, क्योंकि वे दोनों भी मर चुके हैं। उस गाँव में बारह घर पठानों के थे। वे लोग बहुत ऊँची ज़मीन पर रहते थे। इस कारण बाढ़ से उनकी प्रायः कोई हानि नहीं हुई। जीवित व्यक्तियों में जिनको रहने के लिए घर मिल गया वे रह गये, जिन्हें घर न मिला वे जगह की खोज में अन्यत्र चले गये। उस समय जो लोग विदेश में थे उन्होंने देश लौट आने पर नये घर बनवाये। सारांश यह कि फिर धीरे-धीरे लोगों की बस्ती बसने लगी। बस्ती अभी अच्छी तरह बसी भी न थी कि इतने में ही मुर्दों के सड़ने से, तालाबों का पानी बिगड़ जाने से, हवा गन्दी हो जाने से तथा और भी अनेक कारणों से गाँव में हैज़ा फैल गया। हैज़े ने पहले पठानों के ही महल्ले में प्रवेश किया, और एक साथ सबको धर दबाया। मुर्दों को दफ़न करने का या परस्पर एक दूसरे की सेवा करने का किसी को अवसर न मिला। हिन्दुओं ने कहा कि मुसलमान लोग गोहत्या के पापों का फल भोग रहे हैं। जातीय शत्रुता के कारण तथा जातिबाह्य होने के भय से कोई हिन्दू उन लोगों को चुल्लू भर पानी तक न पिला सका और न दूसरी ही तरह की कोई सहायता दे सका।

बिल्वन ठाकुर जब इस गाँव में आये तब गाँव की यही हालत थी। बिल्वन के साथ कुछ चेले भी थे। गाँव की दशा देख उन लोगों ने हैज़े के डर से भागने की चेष्टा की तब बिल्वन ने धमकाकर उनको रोक लिया। बीमार पठानों की वे अपने हाथों सेवा करने लगे; उन लोगों को पथ्य, पानी और दवा-दारू देने लगे। उन्होंने मुर्दें को गाड़ने का भी प्रबन्ध कर दिया। हिन्दू संन्यासी का यह अनाचार देखकर हिन्दू लोग अचम्भे में आ गये। बिल्वन से इस सम्बन्ध में जो कोई पूछता तो उसे वे यही जवाब देते कि मैं संन्यासी हूँ, मेरी कोई जाति नहीं। मैं तो मनुष्य-जाति का हूँ। मनुष्य जब मरा जा रहा है तब जाति का विचार कैसा? अथवा ईश्वर की सृष्टि में मनुष्य जब मनुष्य का प्रेम चाह रहा है तब फिर जाति-पाँति का बिचार कैसा? हिन्दू लोग बिल्वन की यह निरपेक्ष परोप-कारिता देखकर उन पर अश्रद्धा या उनकी निन्दा करने का साहस नहीं कर सके। बिल्वन का यह काम भला है या बुरा, इसका भी निश्चय वे नहीं कर सके।

शास्त्रीय ज्ञान न रहने के कारण उन हिन्दुओं ने कुछ सन्देह करते हुए कहा—यह काम अच्छा नहीं। किन्तु उनके हृदय में जो पुरुष विराज रहा था उसने कहा—अच्छा है। बिल्वन ठाकुर किसी के भला-बुरा कहने की कुछ परवा न करके अपना काम करने लगे। मरणासन्न पठान उन्हें पैग़-म्बर समझने लगे। पठानों के छोटे-छोटे लड़कों को, हैज़ा होने

की जगह से अलग रखने के लिए, बिल्वन हिन्दुओं के पास ले गये। इस पर हिन्दू बे-तरह बिगड़े। किसी ने उन लड़कों को आश्रय न दिया। तब बिल्वन उनको एक टूटे-फूटे परित्यक्त मन्दिर में ले गये। पठानों के लड़के उसी मन्दिर में रहने लगे। बिल्वन सबेरे ही उठकर उन लड़कों के लिए भिक्षा माँगने बाहर जाते थे; परन्तु भिक्षा देता कौन? देश में अन्न था कहाँ? कितने ही लोग आहार न मिलने के कारण भूखों मर रहे थे। उस गाँव का जो मुसलमान ज़मींदार था उसका घर वहाँ से बहुत दूर था। बिल्वन उसके पास गये। किसी तरह उसे प्रसन्न करके और उससे कुछ रुपया लेकर वे चावल मँगाने लगे। वे आप रोगियों की सेवा करते और उनके चेले चावल बाँटते थे। अवकाश मिलने पर बिल्वन कभी-कभी उन लड़कों के साथ मिलकर खेलते थे। वे लड़के उन्हें देखते ही कोलाहल करने लगते थे। शाम के वक़्त उस मन्दिर के पास होकर जाने से ऐसा मालूम होता था मानो मन्दिर में हज़ारों तोते एक साथ टें-टें कर रहे हैं। बिल्वन के पास इसराज के आकार का एक बाजा था। वे जब बहुत थक जाते तब उसी को बजाकर कुछ गाते थे। जब लड़के उनको कुछ गाते-बजाते देखते तब चारों ओर से उन्हें घेरकर बैठ जाते थे। कोई ध्यान-पूर्वक उनका गाना सुनता था, कोई बाजे का तार खींचता था, और कोई गाने की कोशिश करके बेतरह तान लेता था।

आख़िर मुसलमानों के महल्ले का हैज़ा हिन्दुओं के महल्ले में आया। गाँव में एक तरह से अराजकता मच गई। चोरी-डकैती का अन्त न रहा। जो जिसे पाता था, लूट लेता था। मसलमान लोग दल बाँध बाँधकर डकैती करने लगे। वे लोग हिन्दू रोगियों को बिछौने से अलग पटककर तख़्त, चारपाई और चटाई तक ले जाने लगे। बिल्वन जी-जान होमकर उनको रोकने लगे। वे लोग बिल्वन की बात को हृदय से मानते थ, कभी उनकी बात टालने का साहस न करते थे। बिल्वन इसी प्रकार गाँव की शान्ति-रक्षा में लगे थे।

एक दिन सवेरे ही सवेरे एक चेले ने आकर बिल्वन से कहा—पीपल के नीचे एक परदेशी पड़ा है। उसे हैज़ा हो गया है। लक्षणों से जान पड़ता है कि अब वह न बचेगा। उसके साथ एक छोटा सा लड़का भी है।

बिल्वन ने उसी वक़्त जाकर देखा, केदारेश्वर बे-सुध पड़ा है। ध्रुव उसके पास ही धूल में सो रहा है। केदारेश्वर के प्राण कण्ठगत हो रहे हैं। रास्ता चलने के कष्ट और अनाहार से वह अत्यन्त खिन्न हो गया था। इसी से उस बस्ती में आते ही एकाएक उसको हैज़े ने धर दबाया। बिल्वन ठाकुर ने बहुत उपचार किया पर किसी दवा से कुछ फ़ायदा न हुआ। कुछ देर के बाद उसी पेड़ के नीचे उसकी मृत्यु हुई। ध्रुव की दशा देखकर बिल्वन को बड़ा दुःख हुआ। उसकी चेष्टा से उन्हें जान पड़ा मानो बड़ी देर से कुछ न खाने के कारण वह

भूख के मारे रोकर सो गया है। बिल्वन बड़ी सावधानी से उसे गोद में उठाकर अपने उसी बालकाश्रय मन्दिर में ले गये।

बयालीसवाँ परिच्छेद

चटगाँव इस समय अराकान के अधीन है। गोविन्द-माणिक्य राज्यच्युत होकर चटगाँव में आये हैं। यह सुनकर अराकान के राजा ने विनीत भाव से उनके पास दूत भेजकर कहला भेजा—अगर वे अपने सिंहासन पर फिर अधिकार करना चाहें तो मैं अपनी सेना के साथ उनकी सहायता करने को तैयार हूँ।

गोविन्दमाणिक्य ने दूत से कहा—मैं सिंहासन नहीं चाहता।

दूत—महाराज, कुछ दिन अराकान की राजधानी में चल कर निवास करें।

राजा—मैं राजधानी में भी रहना नहीं चाहता। चटगाँव के किसी प्रान्त में कोई स्थान मिल जाने से ही मैं अराकान के राजा का ऋणी रहूँगा।

दूत—महाराज जहाँ रहना पसन्द करें वहीं रह सकते हैं। इस राज्य को आप अपना ही समझें।

अराकान-राज्य के कितने ही नौकर राजा के साथ ही साथ रहे। गोविन्दमाणिक्य ने उनको साथ रहने से मना

नहीं किया। उन्होंने मन ही मन कहा—अराकान ही तो है, शायद मेरे ऊपर कुछ सन्देह करके अराकान के राजा मेरे पास अपने लोगों को रखना चाहते हों।

मयानी नदी के किनारे राजा ने अपनी कुटी बनवाई। नदी का जल बड़ा स्वच्छ है। धार उतनी विस्तृत नहीं है, किन्तु पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़ों पर से कल-कल शब्द करती हुई बड़े वेग से बह रही है। उस नदी के दोनों ओर काले रङ्ग के पहाड़ हैं। काले-काले पत्थरों पर विचित्र रङ्ग की सेवार है जो नीचे की ओर लटक रही है। पहाड़ में कहीं-कहीं छोटी-छोटी गुफाएँ हैं जिनमें भाँति-भाँति के पक्षी रहते हैं। पहाड़ का शिखर कहीं-कहीं इतना ऊँचा है कि उसकी ओट के मारे सूर्य की किरणें बड़ी देर में नदी पर आकर पड़ती हैं। पहाड़ के ऊपर अनेक प्रकार के बड़े-बड़े पौदे, भिन्न-भिन्न आकार के फूल-पत्तों से शोभायमान होकर, झूम रहे हैं। कहीं-कहीं नदी के दोनों किनारे, दूर तक, घना जङ्गल चला गया है। एक लम्बा, शाखाहीन, सफ़ेद डिठुवन का पेड़ पहाड़ पर तिरछा खड़ा है। उसकी छाँह नीचे नदी के चञ्चल जल में नाच रही है। बड़ी बड़ी लताएँ उस पेड़ से लिपटकर धीरे-धीरे हिल रही हैं। उस पार्श्ववर्ती घने जङ्गल में कहीं-कहीं केले का वन भी दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे झरने हैं जिनका जल बड़े वेग से बहकर उस नदी में आकर गिरता है। नदी का प्रवाह पत्थर के टुकड़ों पर होता हुआ नीचे की ओर

गिरता है, उसका लगातार झर्झर शब्द पहाड़ से टकराकर प्रतिध्वनित हो रहा है।

गोविन्दमाणिक्य इसी नदी के किनारे, शीतल छाया में उन झर्झर शब्दों के आनन्द का अनुभव करते हुए, पहाड़ के नीचे अपनी शान्तिकुटी में रहने और शान्ति-सुख से हृदय का भरने लगे। एकान्त प्रकृति का शान्तिमय प्रेम चारों ओर से झरनों की तरह उनके हृदय पर गिरकर उनके समस्त मानसिक तापों को दूर करने लगा। वे धीरे-धीरे अपने हृदय-गह्वर से क्रोध, अहङ्कार आदि बुरे दोषों को निकाल बाहर करने लगे। उन्होंने अपने हृदय का द्वार खोल दिया। उसमें स्वच्छ प्रकाश और ठण्डी हवा ने प्रवेश करके उसके अन्धकार और उत्ताप को बिलकुल दूर कर दिया। किसने उनसे एक हाथ से उपकार ग्रहण करके दूसरे हाथ से उनके साथ कृतघ्नता का व्यवहार किया है, किसने उनसे सम्मानित होकर उनका अपमान किया है, इन सारी बातों को वे एकदम भूल गये। वे इस पर्वतवासिनी पुरातन प्रकृति की अविरत कार्यकारिता और उसकी शाश्वतिक चिन्तारहित शान्तिमय नवीनता देखकर आप भी मानो वैसे ही नूतन, निश्चिन्त और शान्त-स्वरूप हो उठे। उन्होंने अपने निष्काम प्रेम को मानो संसार की दसों दिशाओं में फैला दिया। वे अपनी समस्त वासनाओं को दूर करके हाथ जोड़कर बोले—हे ईश्वर, तुम धन्य हो। तुमने सम्पत्ति-शिखर से गिरते हुए मुझे अपनी गोद में

उठाकर इस यात्रा में बचा लिया। मैं गिरा ही चाहता था। तुम्हारी कृपा से मैं अब बच गया। जब मैं राजा था तब मैंने अपना महत्त्व कुछ नहीं जाना। आज मैं अपना महत्त्व सारे संसार में फैला हुआ देख रहा हूँ। वे आगे और कुछ बोल न सके। उनका गला भर आया। उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे। कुछ देर के बाद धीरज धर कर वे फिर बोले—नाथ, तुमने मेरे स्नेहाधार ध्रुव को मुझसे अलग कर दिया। उसकी यन्त्रणा अब तक मेरे हृदय में कुछ-कुछ होती है। यद्यपि मैं समझता हूं कि तुमने यह अच्छा ही किया है तथापि उसके लिए कभी-कभी हृदय अधीर हो उठता है। मैंने उस बालक के स्नेह में अपने समस्त कर्तव्यों को भूलकर अपने जीवन का उद्देश्य उसी के ऊपर निर्भर कर रक्खा था। तुमने संकट से मुझे बचा लिया। मैंने ध्रुव को अपने समस्त पुण्य का पुरस्कार मान कर ग्रहण किया। तुम उसका हरण करके शिक्षा दे रहे हो कि पुण्य का पुरस्कार पुण्य ही होता है। तुम्हारी इस शिक्षा के प्रभाव से मैं आज उस ध्रुव के पवित्र विरह-दुःख को सुख मानकर तुम्हारे अनुग्रह का अनुभव कर रहा हूँ। प्रभो ! मैं वेतन-स्वरूप काम्य फल ग्रहण करके सेवक की तरह काम न करूँगा। मैं केवल तुम्हारे प्रेम के वशवर्ती होकर तुम्हारी सेवा करूँगा।

गोविन्दमाणिक्य ने देखा कि जो शान्तिमयी प्रकृति एकान्त में स्नेहधारा का सञ्चय करती है, वह उसी को जन-समाज

में घर-घर नदी की भाँति प्रवाहित करती है। जो उस प्रेम-प्रवाह में मग्न होता है उसका ताप शान्त हो जाता है, उसकी तृषा शान्त हो जाती है। जो उस प्रेमप्रवाह का स्पर्श नहीं करता उस पर प्रकृति का कोई दबाव भी नहीं।

गोविन्दमाणिक्य ने मन में सोचा—मैं भी अपने, इस जगह के, शान्तिमय सञ्चित प्रेम को लोगों में बाँटने के हेतु बाहर जाऊँगा। वे उस आश्रम को छोड़कर बाहर निकले।

सहसा राज्य छोड़कर उदासीन होना, कहने में जितना सुगम जान पड़ता है वास्तव में उतना, सुगम नहीं है। राजकीय वेष को परित्याग करके गेरुआ वस्त्र धारण करना कुछ सहज नहीं है। राज्य का परित्याग करना सहज हो भी सकता है किन्तु हम लोगों को जन्मकाल से जो छोटी-छोटी आदतें पड़ गई हैं उनका छोड़ना सहज नहीं है। उन आदतों को हम एका-एक नहीं छोड़ सकते। वे आदतें अपनी तृष्णा के उत्कट आवेगों को लेकर हमारी नस-नस में समा गई हैं। उनकी तृष्णा यथावसर पूरी न की जाय तो वे हमारे रुधिर को ही सोखने लग जाय।

कोई यह न समझे कि गोविन्दमाणिक्य जितने दिन उस जन-समाजर-हित कुटी में रहे उतने दिन वे आलसी की तरह पाँव फैलाये पड़े रहे। नहीं, वे पग-पग पर अपनी छोटी-छोटी हज़ारों आदतों के साथ युद्ध करते थे। जब किसी चीज़ की कमी से उनका हृदय अधीर हो उठता था तब वे आप ही अपने

को धिक्कारते थे। वे अपने मन की सहस्रमुखी तृष्णा को, कुछ खाना न देकर, धीरे-धीरे नष्ट कर डालते थे। वे पग-पग पर अपनी इन अनेक आदतों के ऊपर विजय प्राप्त कर सुख पाते थे। जिस तरह लोग दुर्दम्य घोड़े को, ख़ूब ज़ोर से दौड़ाकर, थकाते हैं उसी तरह वे अभ्यस्त पदार्थों के न मिलने पर अपने अधीर हृदय को अभावरूपी मरुस्थल के मैदान में बार-बार दौड़ाकर शान्त करते थे। उन आदतों के कारण उन्हें बहुत दिनों तक चैन न मिला।

गोविन्दमाणिक्य पहाड़ी प्रदेश को छोड़कर दक्षिणी समुद्र की ओर चले। वे वासना की सारी परतन्त्रता का परित्याग करके मन में स्वाधीनता का सुख अनुभव करने लगे। अब एक भी विघ्नकर्ता उनके पास न रहा। आगे बढ़ने में अब उन्हें कोई किसी तरह की बाधा नहीं पहुँचा सकता। उन्होंने प्रकृति को व्यापक रूप में देखा और अपने को भी उसी का एक परमाणु माना। वे हरित वृक्षों, लताओं और सूर्य्य की सुनहरी किरणों में प्रकृति की अपार शोभा देखने लगे। वे मनुष्यों के हँसने-बोलने, उठने-बैठने और चलने-फिरने में एक अपूर्व आनन्द पाने लगे। उन्होंने जिसे देखा उसी को पास बुलाकर और उसके साथ बातें करके सुख पाया। जिसने उनकी उपेक्षा की उस पर भी उनके हृदय का सद्भाव बना रहा। उनके मन में दुर्बलों की सहायता करने और दुखियों का यथासाध्य उपकार करने की अभि-

लाषा विशेष रूप से जागृत हो उठी। उन्होंने अपने समस्त बल तथा समस्त सुखों को परोपकार के लिए त्याग दिया। उन्हें अब अपना न तो कोई काम रहा, न किसी पदार्थ की वासना ही रही। इस जड़-चेतनमय संसार में जो दृश्य दूसरे को दिखाई नहीं देते थे वे सब नूतन स्वरूप धारण करके उनकी दृष्टि के सामने आने लगे। वे जब दो लड़कों को सड़क पर खेलते हुए देखते थे; जब दो भाइयों को, पिता-पुत्र को, माँ और बच्चे को एक साथ बैठे देखते थे, फिर वे धूलि-धूसरित दरिद्र वा कृपण ही क्यों न हों, उनमें मनुष्य के अतिविस्तृत हृदय-समुद्र का एक अपार प्रेम देखते थे। जो माता बच्चे को गोद में लिये हुए है, मानो उसी को वे भूत और भविष्य के समस्त बालकों की माता मानते थे। दो मित्रों को परस्पर मधुरालाप करते देखकर वे समस्त मनुष्य-जाति के इसी तरह मित्रता के प्रेम में अनुरक्त होने का अनुभव करते थे। वे जिस पृथ्वी को पहले प्रायः मातृहीना समझते थे उसी को अब उन्होंने नीचे दृष्टि किये चिरकाल से जागी हुई माता की गोद में बैठे पाया। संसार के दुःख, शोक, दारिद्र्य, विषाद आदि देखकर भी अब उनके मन में घबराहट नहीं होती। वे अब किसी का दुःख देखकर हताश नहीं होते। किसी तरह का शुभ लक्षण देखते ही उनकी आशा हज़ारों अशुभों की आशङ्का से पार होकर एकाएक खिल उठती थी। हम लोगों की सारी जिन्दगी में क्या एक दिन भी

ऐसे अभूत-पूर्व नये प्रम और नई स्वाधीनता का उदय नहीं हुआ जिस दिन इस सुख-दुःखमय संसार को एक सुन्दर सुकुमार बालक की तरह प्रेमोल्लसित विनोद की गोद में प्रफुल्ल भाव से बैठा देखा हो? हम लोगों के लिए भी कोई दिन ऐसा आ सकता है जिस दिन हम लोगों को कोई विचलित नहीं कर सकता, कोई हमको किसी संसारिक सुख से वञ्चित नहीं कर सकता, और किसी क़िले के भीतर बन्द करके नहीं रख सकता। किसी दिन हम लोगों के लिए भी एक अपूर्व आनन्द-सितार का तार बज उठता है। एक अपूर्व वसन्त ऋतु की शोभा झलक पड़ती है और युवत्व के आनन्द से सारा संसार भर जाता है। एक दिन ऐसा भी आता है जब सारा दुःख-दारिद्र्य मन से बहिर्भूत हो जाता है। नवीन स्वाधीनता की उमङ्ग में, अनिवार्य्य स्वतन्त्रता के साम्राज्य में, उदार-हृदय गोविन्दमाणिक्य को आज वही दिन प्राप्त हुआ है।

चटगाँव से दक्खिन की ओर रामूशहर अब भी दस कोस पर है। शाम होने के कुछ पहले गोविन्दमाणिक्य जब अलमखाल नामक एक छोटी सी बस्ती में पहुँचे तब उन्हें उस गाँव के प्रान्त में एक घर के भीतर से एक खिन्न-कण्ठ बालक के रोने का शब्द सुनाई देने लगा। इससे गोविन्दमाणिक्य का हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। वे उसी घड़ी उस घर के भीतर गये। उन्होंने देखा कि एक युवा एक दुबले-पतले लड़के को गोद में लिये घर के भीतर इधर-उधर टहल

रहा है। लड़का थर-थर काँप रहा है और ज़रा देर ठहर-ठहर कर रो उठता है। वह युवक उसको अपनी छाती से लगाकर सुलाने की चेष्टा कर रहा है। एकाएक संन्यासी-वेष-धारी गोविन्दमाणिक्य को देखकर वह सकपका गया। उसने अधीर स्वर में कहा—स्वामी जी, इस लड़के को आशीर्वाद दीजिये। गोविन्दमाणिक्य ने अपना कम्बल निकालकर अच्छी तरह उस बालक को उढ़ा दिया। लड़के ने एक बार अपना सिर उठाकर गोविन्दमाणिक्य की ओर देखा। उसकी आँखों के नीचे झाँई पड़ गई थी। उसके सूखे से मलिन चेहरे में दो आँखों के सिवा और कुछ नहीं मालूम होता था। वह गोविन्दमाणिक्य को देखकर एक बार, अपने पतले सफ़ेद होठों को हिलाकर, अस्पष्ट शब्दों में कुछ बोला। तदनंतर अपने बाप के कन्धे पर माथा रखकर चुप हो रहा। उस युवा ने लड़के को नीचे बैठाकर राजा को प्रणाम किया और उनके पैरों की रज लेकर लड़के के माथे में और शरीर में लगा दी। राजा ने उस लड़के को अपनी गोद में लेकर युवक से पूछा—इस लड़के के बाप का नाम क्या है? युवक ने कहा—इसका बाप मैं ही हूँ। मेरा नाम यादव है। आँखों में आँसू भरकर यादव कहने लगा— दैव ने एक-एक कर मेरे सब लड़के छीन लिये। अब यही एक रह गया है। इसके बाद यादव ने ठण्डी साँस ली। राजा ने उस युवक से कहा—आज की रात को मैं तुम्हारे ही यहाँ अतिथि के रूप में रहूँगा। मैं कुछ भोजन न करूँगा।

अतएव मेरे लिए भोजन आदि का प्रबन्ध न करो। केवल यहाँ रहकर रात बिताऊँगा। गोविन्दमाणिक्य उस रात को वहीं रहे। उनके साथ के नौकरों ने एक धनवान् कायस्थ के घर जाकर आतिथ्य ग्रहण किया। देखते ही देखते साँझ हो गई। उस घर के निकट सेवार से ढका एक तालाब था। उसके ऊपर से भाप उड़ने लगी। ग्वालों के घर से घूर जलाने का धुआँ, सीधे आसमान की ओर न जाकर, चक्कर लगाता हुआ सामने के लम्बे-चौड़े जलाशय और मैदान में फैल गया। झाड़ियों में झिल्लियाँ कर्कश स्वर में बोलने लगीं; हवा बन्द हो गई। पेड़ का पत्ता तक नहीं हिलता। तालाब के दूसरे किनारे पर बाँसों का घना जङ्गल है। उन बाँसों की झाड़ी में से एक चिड़िया रह-रहकर टर्-टर् करके बोल उठती है। दिये की धुँधली रोशनी में गोविन्दमाणिक्य उस रोगी बालक का मलिन मुँह देख रहे हैं। वे उसे, भली भाँति कम्बल से ढककर उसके पास ही बैठ कर, तरह-तरह के क़िस्से सुनाने लगे। सन्ध्या बीत चली। गीदड़ बोलने लगे। लड़का क़िस्सा सुनते-सुनते बीमारी का कष्ट भूलकर सो गया। राजा दूसरे कमरे में, जो उस कमरे के पास ही था, जाकर लेट रहे। रात में उन्हें नींद नहीं आई। सारी रात वे ध्रुव की ही बातें सोचते रहे। राजा ने मन ही मन कहा—मैं ध्रुव को खोकर अब सभी लड़कों को ध्रुव के ही समान समझता हूँ।

जब दिन निकलने को हुआ तब राजा ने सुना कि लड़का जागकर अपने बाप से पूछ रहा है—बाबूजी, क्या बजता है?

बाप ने कहा—ढोल।

बालक—ढोल क्यों बजता है?

बाप—कल पूजा है।

लड़का—कल पूजा है? पूजा देखने के लिए मुझे कुछ न दोगे?

बाप—क्या दूँ बेटा?

लड़का—मुझको एक लाल दुशाला न दोगे?

बाप—मैं दुशाला कहाँ पाऊँगा? मेरे लाल, मेरे पास कुछ नहीं है।

लड़का—तुम्हारे पास कुछ नहीं है?

बाप—हाँ बेटा, कुछ नहीं है, केवल तुम्हीं एक हो।

यह कहकर उसने जो फटे हृदय से एक दीर्घ निःश्वास लिया तो उस पास वाले कमरे में लेटे हुए राजा ने सुन लिया।

इसके बाद लड़का फिर कुछ न बोला। मालूम होता है, वह बाप की छाती से लगकर सो गया।

दिन अच्छी तरह निकलने भी न पाया था कि गोविन्द-माणिक्य उठ बैठे। घर के मालिक को अपने जाने की सूचना बिना दिये ही घोड़े पर सवार होकर वे रामूशहर की ओर चल पड़े। उन्होंने दिन में न कुछ खाया, न पिया और न कहीं विश्राम ही किया। रास्ते में एक छोटी सी नदी मिली।

घोड़े पर चढ़े ही चढ़े वे नदी पार हो गये। दुपहरी की कड़ी धूप के वक्त वे रामूशहर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने अधिक देर न लगाई। शाम होने के कुछ पहले ही वे यादव के घर लौट आये। यादव को एकान्त में बुलाकर उन्होंने अपनी झोली से एक लाल दुशाला निकाला और उसके हाथ में देकर कहा—आज पूजा के दिन यही दुशाला तुम अपने लड़के को दो।

यादव ने रोकर उनके पैर पकड़ लिये और कहा—स्वामीजी, आप ही अपने हाथ से उसे दें!

राजा—नहीं, मैं न दूँगा। मेरे देने से कोई फल न होगा। तुम मेरा नाम भी न लेना। मैं केवल तुम्हारे लड़के के मुँह पर आनन्द की मुसकराहट देख कर चला जाऊँगा।

उस रोगी बालक के अत्यन्त खिन्न मुख को विकसित होते देख राजा चले गये। वे दुखी होकर मन ही मन कहने लगे—हाय! मैं किसी काम का नहीं। मैंने कई वर्ष तक केवल राज्यापभोग ही किया; कुछ सीखा नहीं। मैं नहीं जानता कि किस उपाय से इस बच्चे का रोग हटेगा, मैं तो निरुपाय होकर शोक करना जानता हूँ। यदि बिल्वन ठाकुर होते तो इसका कुछ उपकार वे अवश्य कर जाते। हे ईश्वर, मैं भी यदि बिल्वन ठाकुर के सदृश हो जाता तो कैसा अच्छा होता।

गोविन्दमाणिक्य ने निश्चय किया कि मैं अब इधर-उधर भटकता न फिरूँगा; जन-समाज में रहकर काम करना सीखूँगा।

रामूशहर के दक्खिन ओर, राजपुर के पास, मग लोगों के क़िले में वे, अराकान के राजा से आज्ञा लेकर, रहने लगे।

गाँववालों के जितने लड़के-बाले थे वे सबके सब क़िले के भीतर गोविन्दमाणिक्य के पास आ गये। गोविन्दमाणिक्य ने उन लड़कों के लिए एक बड़ी पाठशाला खोली। वे उन्हें पढ़ाते थे और जब-तब उनके साथ खेलते थे। कभी-कभी वे उनके साथ जाकर उन्हीं के घर पर रह जाते थे। जो लड़के बीमार हो जाते उन्हें देखने के लिए वे स्वयं उनके घर जाते थे। सब लड़के स्वर्ग से आये हैं अथवा वे देव-बालक हैं—यह बात नहीं है। मनुष्यों और राक्षसों में क्या भेद है—वे इतना भी नहीं जानते। उन लोगों में स्वार्थपरता, क्रोध, लोभ, द्वेष और हिंसा-बुद्धि बड़ी ही प्रबल थी। माँ-बाप के पास घर पर उन्हें अच्छी शिक्षा मिलती हो सो भी नहीं। इस कारण गोविन्दमाणिक्य ने उन लड़कों को सुशिक्षित करना नितान्त आवश्यक समझा। क़िला बिलकुल खाली पड़ा था। वह अब मग जाति के बालकों से भर गया। मानो क़िले के भीतर उच्छ्वास वायु और चौसठ तत्व मिलकर एक साथ रहने लगे। गोविन्दमाणिक्य इन्हीं सामग्रियों को एकत्र कर बड़ी धीरता से उन्हें मनुष्य बनाने की चेष्टा करने लगे। मनुष्य का जीवन कैसा श्रेष्ठ है और किस प्राणपण से यत्न-पूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए, यह गोविन्दमाणिक्य भली भाँति जानते हैं। वे अपने चारों ओर मनुष्यों को कर्तव्य-परायण देखना चाहते हैं

और चाहते हैं कि असंख्य फलों से भरा हुआ मनुष्य-जन्म सार्थक हो। गोविन्दमाणिक्य अपनी चेष्टा से इसी का साधन करके अपना शेष जीवन बिताना चाहते हैं। इसके लिए वे सभी कष्टों और सभी विघ्न-बाधाओं को सहन कर सकते हैं। उन्हें कभी कभी इस बात का खेद होता है कि हम अपने काम को अच्छी तरह पूरा नहीं कर सकते। वे सोचते हैं कि बिल्वन ठाकुर साथ रहते तो अच्छा होता।

इस प्रकार गोविन्दमाणिक्य सैकड़ों ध्रुवों को लेकर समय बिताने लगे।

तेंतालीसवाँ परिच्छेद

इधर शाह शुजा, अपने भाई औरङ्गज़ेब की सेना से पराजित होकर, भागने का उद्योग कर रहे हैं। इलाहाबाद के पास रण-भूमि में उनकी हार हुई। शत्रु से हार कर शुजा इस विपत्ति के समय अपने पक्ष के लोगों का भी विश्वास न कर सके। वे अपमानित और शङ्कित होने के कारण वेष बदलकर, साधारण मनुष्य की तरह, अकेले भाग चले। शुजा जहाँ जाते हैं वहीं उनके पीछे विजय-पताका लिये शत्रु-सेना आ पहुँचती है। मानो उनके साथ ही साथ शत्रु-सेना के घोड़ों की टाप लगी फिरती है। आख़िर जैसे-तैसे वे पटना पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने फिर नवाब का रूप धारण

करके अपने आने का समाचार सब पर प्रकट किया। वे अभी पटना पहुँचे ही थे कि इतने में औरङ्गज़ेब का बेटा मुहम्मद, सेना के साथ, पटने के पास आ पहुँचा। शुजा तुरन्त पटना छोड़ मुङ्गेर भाग गये।

उनके खोये हुए कितने ही सिपाही और साथी लोग जहाँ-तहाँ से आ-आकर मुङ्गेर में उनके पास जुटने लगे। यहाँ उन्होंने सेना में नये जवान भर्ती किये। तेलियागढ़ी और सिकलागली के क़िले की मरम्मत करके और नदी के किनारे पहाड़ के ऊपर दीवारें खड़ी करके वे एक प्रकार से निश्चिन्त हो बैठे।

इस बीच में औरङ्गज़ेब ने अपने चतुर सेनापति मीरजुम्ला को शाहज़ादा मुहम्मद की सहायता करने भेजा। मुहम्मद ने प्रकट रूप से मुङ्गेर के क़िले के पास आकर अपना डेरा डाल दिया। मीरजुम्ला छिपकर दूसरे रास्ते से मुङ्गेर की ओर रवाना हुआ। जब शुजा मुहम्मद के साथ छोटी-मोटी लड़ाइयों में मग्न थे तब एकाएक ख़बर मिली कि मीरजुम्ला बहुत बड़ी सेना के साथ वसन्तपुर में आ पहुँचा है। इससे घबराकर शुजा झट अपनी सेना को साथ ले मुङ्गेर छोड़कर राजमहल भाग गये। उनके बाल-बच्चे वहीं थे। बादशाह की सेना ने बहुत जल्द वहाँ भी उनका पीछा किया। शुजा छः दिन तक उस सेना के साथ ख़ूब लड़े। आख़िर जब उन्होंने देखा कि अब रक्षा का कोई उपाय नहीं है तब एक दिन वे चुपचाप उस भयङ्कर अँधेरी रात में अपने बाल-बच्चे, औ

जितना बना उतनी धन-सम्पत्ति, ले नदी पार होकर तोएडा भाग गये और शीघ्र ही वहाँ के क़िले की मरम्मत कराने लगे।

बरसात का मौसम आ पहुँचा। वर्षा के जल से नदी-नाले भर गये। बादशाह की सेना आगे न बढ़ सकी।

इस लड़ाई-झगड़े के पहले शाहज़ादा मुहम्मद के साथ शुजा की लड़की के ब्याह की बात पक्की हो गई थी। किन्तु लड़ाई छिड़ जाने से उस प्रस्ताव को दोनों पक्षवाले भूल गये थे।

वर्षा के कारण युद्ध बन्द है। मीरजुम्ला राजमहल से कुछ आगे अपना ख़ेमा ले गया। ऐसे समय तोएडा की छावनी से एक सवार ने आकर चुपचाप मुहम्मद के हाथ में एक ख़त दिया। शाहज़ादे ने उसे खोलकर पढ़ा। शुजा की लड़की ने लिखा था—शाहज़ादा साहब, मेरे नसीब में क्या यही बदा था! मैं जिनको मन ही मन शौहर समझ करके अपना दिल दे चुकी हूँ, जो अँगूठी बदलकर मेरे साथ शादी करने का क़ौल कर चुके हैं, वे आज हाथ में चोखी तलवार लेकर मेरे बाप का गला काटने आये हैं। मुझे क्या यही देखना था? मेरे और आपके ब्याह का क्या यही उत्सव मनाया जा रहा है? इसी के लिए इतना आडम्बर! क्या इसी से आज हम लोगों का राजमहल लाल हो रहा है? क्या इसी की ख़ुशी में शाहज़ादा दिल्ली से लोहे की जंजीर हाथ में लिये आये हैं? मुहब्बत की क्या यही ज़ंजीर है?

यह ख़त पढ़ते ही मानो एकाएक मुहम्मद के पैरों के नीचे

से धरती खिसक गई। उनका हृदय फट गया। काँप उठे; बेचैन हो गये। उन्होंने उसी घड़ी बादशाहत की आशा और बादशाह के अनुग्रह को तिलाञ्जलि दे दी। उन्होंने अपनी नई जवानी की धधकती हुई आग में अपने हानि-लाभ की विवेचना का हवन कर दिया। उन्हें अपने बाप का सारा काम अन्याय-पूर्ण और कठोर जँचने लगा। पिता की कपट से भरी कठोर अनीति के विरुद्ध इसके पहले भी वे पिता के सामने अपनी राय स्पष्ट रूप से प्रकट किया करते थे, इस कारण बादशाह कभी-कभी उन पर असन्तोष भी प्रकट करते थे। आज वे अपने कई एक प्रधान सेनाध्यक्षों को बुला कर बादशाह की निर्दयता, कुटिलता और अत्याचार पर खेद प्रकट करते हुए बोले—मैं अपने चचा से मिलने तोण्डा जाऊँगा। अगर तुम लोग सच्चे दिल से मुझे प्यार करते हो तो मेरे साथ चलो। सेनापतियों ने लम्बा सलाम करके तुरन्तु कहा—शाहज़ादा साहब जो फ़रमा रहे हैं वह बहुत ठीक है। कल लगभग आधी सेना तोण्डा की छावनी में शाहज़ादा के साथ जा मिलेगी। मुहम्मद उसी दिन नदी पार होकर शुजा के खेमे में पहुँचे।

तोण्डा में सर्वत्र आनन्द छा गया। सब लोग लड़ाई-झगड़े की बात एकदम भूल गये। इतने दिन केवल पुरुष ही काम-काज में दिन-रात फँसे रहते थे। इस समय शुजा के घर में स्त्रियों का काम इतना बढ़ गया कि उन्हें दम लेने तक

की फ़ुरसत नहीं। शुजा ने बड़ी मुहब्बत और ख़ुशी के साथ मुहम्मद का स्वागत किया। अविरत रक्तपात होने के बाद एकाएक रक्तप्रवाह की गति रुक जाने से मानो ख़ून ने दोनों के बदन में ज़ोर पकड़ा। ख़ुशी-ख़ुशी शुजा की लड़की के साथ मुहम्मद की शादी हो गई। ब्याह का उत्सव समाप्त होते-होते ख़बर आई कि बादशाह की सेना आ रही है।

मुहम्मद जैसे ही शुजा के ख़ेमे में गये वैसे ही सेनाध्यक्षों ने मीरजुम्ला के पास ख़बर भेजी। बादशाह का एक भी सिपाही मुहम्मद के साथ नहीं मिला। वे लोग समझ गये थे कि मुहम्मद अपनी इच्छा से विपत्ति के समुद्र में कूद पड़े हैं। उनके दल में जाकर सम्मिलित होना निरा पागलपन है।

शुजा और मुहम्मद को विश्वास था कि बादशाह की अधिकांश सेना रणभूमि में हमारे साथ आ मिलेगी। इसी आशा पर मुहम्मद अपनी झण्डी फहराते हुए रणभूमि में आ पहुँचे। बादशाह की सेना का एक बड़ा दल उनकी ओर अग्रसर हुआ। मुहम्मद मारे ख़ुशी के फूल उठे। जब पास आकर उन लोगों ने मुहम्मद की सेना पर गोला बरसाना शुरू किया तब शाहज़ादे की आँखें खुलीं। किन्तु अब आँख खुलने पर हो ही क्या सकता था? समय न रहा। शुजा की सेना भागने पर हुई। शुजा के बड़े बेटे समरशायी हुए।

बदनसीब शुजा उसी रात को अपने दामाद और बाल-

बच्चों के साथ तेज़ चलनेवाली नाव पर चढ़कर ढाका भाग गये। मीरजुम्ला ने ढाके तक शुजा का पीछा करना ज़रूरी न समझा। वह अपने अधिकृत देश में शान्ति-स्थापन करने की ओर प्रवृत्त हुआ।

शुजा के दुःख के दिनों में, जब मित्रवर्ग एक-एक करके विमुख होते जाते थे तब मुहम्मद ने अपने धन, प्राण, सम्मान आदि की कुछ परवा न करके उनका पक्ष लिया। इस कारण शुजा का हृदय मोम की तरह पिघल गया। वे हृदय से मुहम्मद को प्यार करने लगे। इसी समय औरङ्गज़ेब का एक जासूस चिट्ठी के साथ ढाका शहर में पकड़ा गया। उसकी चिट्ठी शुजा के हाथ लगी। औरङ्गज़ेब ने मुहम्मद को लिखा था—मेरी आँखों के पुतले प्यारे मुहम्मद, मैंने जिस काम के लिये तुम्हें भेजा था उसे तुम पूरा नहीं कर सके। तुमने अपने कर्तव्य का पालन न करके अपने स्वच्छ यश में धब्बा लगा लिया। ललना के कपट-पूर्ण हास्य में मुग्ध होकर तुम अपना कर्तव्य भूल गये। बड़े खेद की बात है कि जिसको किसी समय समस्त मुग़ल-साम्राज्य का शासन करना पड़ेगा वह आज एक नाज़नी के नयन-तीर का निशाना हो रहा है। जो हो, जब तुमने ख़ुदा ताला के नाम पर शपथ खाकर खेद प्रकट किया है तब मैं तुम्हें क्षमा प्रदान करता हूँ। किन्तु जिस काम के लिए तुम वहाँ ठहरे हो उसे पूरा करके जब आओगे तब हमारे पूर्ण अनुग्रह के अधिकारी बनोगे।

शुजा का हृदय काँप उठा मानो उन पर एकाएक वज्र-पात हुआ। मुहम्मद ने बार-बार कहा कि मैंने पिता के निकट कभी कुछ खेद प्रकट नहीं किया है। यह सब पिताजी का कपट-कौशल है, किन्तु शुजा का सन्देह दूर न हुआ। शुजा तीन दिन तक बराबर सोचते ही रहे। आख़िर चौथे दिन उन्होंने कहा—सुनो प्यारे मुहम्मद, हम लोगों में विश्वास का बन्धन ढीला पड़ गया। अतएव मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम अपनी स्त्री को लेकर जहाँ चाहो, चले जाओ। तुम्हारे साथ रहने से हमारे मन में दिन-दिन अशान्ति बढ़ती जायगी। मैं अपने ख़ज़ाने का द्वार खोले देता हूँ, जितना चाहो उतना धन-रत्न ले जाओ।

मुहम्मद रोकर विदा हुए। उनकी स्त्री उनके साथ गई।

शुजा ने मन ही मन कहा— अब युद्ध न करूँगा। चट-गाँव के बन्दर से एक जहाज़ लेकर मक्का चला जाऊँगा।

मन में यह ठानकर और वेष बदलकर शुजा ढाके से रवाना हुए।

चवालीसवाँ परिच्छेद

गोविन्दमाणिक्य जिस क़िले में रहते हैं उसी क़िले की ओर एक दिन बरसात के मौसम में, दिन के तीसरे पहर, एक फ़क़ीर तीन लड़कों और एक युवा नौकर को साथ लिये आ

रहा है। लड़के बहुत थके हुए जान पड़ते हैं। हवा ज़ोर से बह रही है और पानी भी लगातार बरस रहा है। उस फ़क़ीर के साथ जो छोटा लड़का है उसकी उम्र चौदह वर्ष से अधिक न होगी। वह जाड़े से काँपता-काँपता अधीर होकर बोला—बाबूजी, मुझसे तो अब चला नहीं जाता। अब वह अशक्त की तरह रोने लगा। फ़क़ीर ने कुछ जवाब न देकर उसे अपने पास खींच लिया। बड़े लड़के ने छोटे को डाँट-कर कहा—रास्ते में इस प्रकार रोने से क्या लाभ! चुप रहो, पिता को व्यर्थ बेचैन मत करो। छोटा लड़का रोने के वेग को रोककर चुप हो रहा। मँझले लड़के ने फ़क़ीर से पूछा—हम लोग कहाँ जा रहे हैं?

फ़क़ीर—सामने जो यह क़िला दिखाई देता है वहीं जा रहे हैं।

"वहाँ कौन है?"

"सुना है, कहीं का राजा संन्यासी होकर उस क़िले में दिन बिता रहा है।"

"बाबूजी, राजा ंन्यासी क्यों हो गया?"

"यह तो मैं नहीं जानता, शायद इसके भाई ने इसे कुत्ते की तरह देश से बाहर निकाल दिया है। उसने इसका राज्य, सुख, धन, सम्पत्ति सब कुछ हड़प कर लिया है। यह बेचारा मारा-मारा फिरता है। इसके पास अब गेरुआ कपड़े के सिवा और क्या होगा? रहने के लिए एक छोटी सी अँधेरी गुफा होगी। अपने भाई के विद्वेषमय विषैले दाँतों से इस

बेचारे को अब और कहीं शरण नहीं। यह कहकर फ़क़ीर ने ज़ोर से अपने होठों को दबाकर हृदय के आवेग को रोका।

बड़े लड़के ने पूछा—यह संन्यासी किस देश का राजा था?

फ़क़ीर—मालूम नहीं।

बड़ा लड़का—अगर हम लोगों को ठहरने न दे तो?

फ़क़ीर—तब हम लोग पेड़ के नीचे ही पड़े रहेंगे। हम लोगों के लिए अब और जगह कहाँ!

सूर्यास्त होने के कुछ पहले, क़िले के भीतर संन्यासी और फ़क़ीर परस्पर मिले। वे एक-दूसरे को देखकर चकित हुए। गोविन्दमाणिक्य ने ध्यान से उसकी ओर देखा—फ़क़ीर वास्तव में फ़क़ीर न जान पड़ा। स्वार्थ से भरी हुई छोटी-छोटी वासनाओं को हृदय से हटाकर, शुद्ध मन से ईश्वर का भजन करने पर जो एक प्रकार का तेज मुखमण्डल पर प्रकाशमान होता है वह फ़क़ीर के चेहरे पर उन्हें न देख पड़ा। फ़क़ीर चौकन्ना और चकित सा दिखाई दे रहा है। उसके हृदय की तृषित वासना मानो उसकी प्रज्वलित आँखों से अग्नि-पान कर रही है। उसके मन के भीतर रुकी हुई हिंसा मानो अपने को आप ही काट-काटकर खा रही है। साथ में जो उसके तीन लड़के हैं उनके थके-माँदे सुन्दर सुकुमार शरीर और एक प्रकार का गौरवान्वित सङ्कोच देखने से मालूम होता है मानो वे जन्म से ही बड़ी रेखदेख और आदर के साथ पाले गये हैं। नीचे की ज़मीन से उनका मानो कुछ सम्बन्ध

ही नहीं। माने पहले ही पहल इन लोगों ने धरती पर पैर रक्खे हैं। पैदल चलने से पैरों की उँगलियों में धूल लगती है, इसके पहले प्रायः कभी इन लोगों को इसका अनुभव न हुआ था। धूल से भरी पृथ्वी की इस दरिद्रावस्था पर माने पग-पग पर इन लोगों को घृणा हो रही है। मसनद और मिट्टी के अन्तर का ख़याल करके वे पग पग पर माने धरती को धिक्कार दे रहे हैं। मानो धरती ने उन लोगों पर विशेष ईर्ष्या करके अपनी बड़ी मसनद को उठाकर कहीं रख छोड़ा है। जिन-जिन बातों से उन्हें कष्ट पहुँचता है वे सभी मानो उनसे शत्रुता कर रही हैं। दरिद्र लोग भीख के लिए मैला कपड़ा लेकर जो उनके पास घुस आने का साहस करते हैं यह केवल उनकी शरारत है। जैसे कुत्ते को पीछे आते देख खाने की थोड़ी सी चीज़ दूर से लोग फेंक देते हैं वैसे ही ये भूखे मैले-कुचैले भिखमङ्गे को देखकर नाक सिको-ड़ते हुए दूर से ही मुट्ठी भर रुपया निस्सकोच भाव से फेंक देते थे। इन लोगों की आँखों के सामने लोगों की साधारण अवस्था, फटे-मैले कपड़े और दीनता मानो बड़ी धृष्टता समझी जाती थी। ये लोग जो इस समय संसार में सुखी और सम्मानित नहीं हो रहे हैं, यह केवल संसार का ही दोष है। गोविन्दमाणिक्य ने इन वाहियात बातों को थोड़े ही सोचा होगा। वे तो उसके लक्षण देखकर ही समझ गये कि यह अपनी सम्पूर्ण वासनाओं को त्यागकर स्वतन्त्रता-पूर्वक संसार

का उपकार करने के हेतु बाहर नहीं निकला है। यह तो अपनी आशा सफल न होने के कारण रुष्ट होकर घर से निकल भागा है। फ़क़ीर के मन में इसी की चिन्ता हो रही है कि मैं जो चाहता हूँ सो मुझे संसार में क्यों नहीं मिलता। और संसार मुझसे जो कुछ चाहता है वह उसे कभी मौक़ा मिलने पर दे दूँगा और न भी दूँ तो कोई हर्ज नहीं। संसार मुझको मनमाना सुख क्यों नहीं देता! इसी कारण संसार से बिगड़कर और उसे अग्राह्य की तरह परित्याग करके यह फ़क़ीर मानो संसार से अलग हो गया है।

फ़क़ीर ने जब गोविन्दमाणिक्य को देखा तब उसका पहला ख़याल बिलकुल बदल गया। वह निश्चय न कर सका कि उन्हें राजा कहकर पुकारे अथवा संन्यासी कहकर। उसने तो मन में समझ रक्खा था कि तोंद बढ़ाये, पगड़ी पहने किसी मोटेमल को देखेंगे; अथवा मलिन संन्यासी को सारी देह में भस्म लगाये, धरती पर लेटे और अपनी साधुता पर गर्व करते हुए दरिद्र वेष में देखेंगे। पर इन दोनों में उसे एक भी न देख पड़ा। गोविन्दमाणिक्य को देखकर उसे ऐसा जान पड़ा जैसे उन्होंने अपनी इच्छा से सब कुछ त्याग दिया है, तब भी सब कुछ मानो उन्हीं का हो रहा है। उन्हें कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं है फिर भी मानो सब कुछ प्राप्त कर लिया है। उन्होंने जिस प्रकार आत्मसमर्पण किया है, उसी प्रकार मानो समस्त संसार ने उनकी सेवा में अपने को समर्पित कर दिया

है। यद्यपि किसी प्रकार का राजसी ठाट नहीं है तो भी वे राजा कहलाने योग्य हैं। इसी तरह संसार के सभी कामों को करते हुए भी वे संन्यासी बने हुए हैं। इस कारण फ़क़ीर न तो उन्हें राजा कह सकता है, और न संन्यासी ही।

राजा ने उन अतिथियों को बड़े आदर से ठहराया, विधिवत् उनकी सेवा की; किन्तु उन लोगों ने राजा के आतिथ्य को बड़े अनादर के साथ ग्रहण किया। ऐसा करने का मानो उन्हें अधिकार था। उन अतिथियों ने राजा पर प्रकट कर दिया कि हमें आराम के लिए अमुक-अमुक चीज़ों की आवश्यकता है, राजा ने बड़े लड़के से स्नेह के साथ पूछा—रास्ता चलने से क्या तुम्हें थकावट अधिक जान पड़ती है?

लड़का इसका कुछ उचित उत्तर न देकर फ़क़ीर के पास दबककर बैठ गया। राजा ने उन लोगों को ओर स्नेह-दृष्टि से देखा और मुसकराकर कहा—तुम लोगों का यह सुकुमार शरीर रास्ता चलने योग्य नहीं है। तुम लोग कुछ दिन तक इस क़िले में रहो। तुमको मैं बड़ी हिफ़ाज़त से रक्खूँगा। किसी तरह का कष्ट न होने दूँगा।

राजा की इस बात का जवाब देना उचित है या नहीं? अगर उचित ही है तो क्या जवाब देना चाहिए? यह लड़कों को क्या मालूम। वे लोग जानते ही नहीं कि दूसरे के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। फ़क़ीर के मुँह की ओर वे तीनों देखने लगे और उसके पास और भी सटकर बैठ

गये। उन लड़कों ने समझा कि शायद यह आदमी अपने मैले हाथ को बढ़ाकर हमें अपनी ओर खींचना चाहता है।

फ़क़ीर ने गम्भीर स्वर में कहा—अच्छा, हम लोग तुम्हारे इस क़िले में कुछ दिन रह सकते हैं।

मानो उसने राजा के ऊपर बड़ा एहसान किया। फ़क़ीर ने मन ही मन कहा कि अगर तुम मुझे वह (शुजा) समझते तो मेरे इस अनुग्रह से तुम्हें बेहद ख़ुशी होती।

वे तीनों लड़के राजा से किसी तरह हिल-मिल न सके, और फ़क़ीर तो एक दम निरपेक्ष ही हो रहा।

फ़क़ीर ने गोविन्दमाणिक्य से पूछा—सुना है, तुम किसी समय राजा थे। कहाँ के राजा थे?

गोविन्दमाणिक्य—त्रिपुरा के।

यह सुनकर लड़कों ने उन्हें महज़ छोटा करके समझा, यद्यपि उन्होंने कभी त्रिपुरा का नाम भी न सुना था।

फ़क़ीर ने कुछ अचम्भे में आकर फिर पूछा—तुम राज्य-च्युत क्यों हुए?

गोविन्दमाणिक्य ज़रा चुप हो रहे। अन्त में उन्होंने कहा—बङ्गाल के नवाब शाह शुजा ने मुझे राज्य से निर्वासित कर दिया है।

उन्होंने नक्षत्र राय का कोई ज़िक्र न किया।

यह सुनकर सभी लड़के चौंक कर फ़क़ीर के चेहरे की ओर देखने लगे। फ़क़ीर का चेहरा उदास हो गया। मानो उसे

किसी पुरानी बात की याद आ गई हो। आख़िर उसने सहसा कह दिया—मालूम होता है, तुम्हारा भाई ही तुम्हारे निर्वासन का कारण हुआ। उसी ने तुम्हारा राज्य हड़पकर तुम्हें संन्यासी बना दिया।

राजा ने आश्चर्य करके कहा—साहब, आपने इन बातों को कैसे जाना ?

फिर उन्होंने सोचा कि इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। इन्होंने किसी से सुना होगा।

फ़क़ीर ने तुरन्त कहा—मुझे कुछ मालूम नहीं। मैंने केवल अटकल से कहा है।

जब रात हुई तब फ़क़ीर लड़कों को साथ लेकर सोने गया। उसको रात भर नींद न आई। वह जागते ही जागते दुःस्वप्न देखने और रह-रहकर चौंकने लगा।

दूसरे दिन सवेरे फ़क़ीर ने कहा—एक बहुत ज़रूरी काम है। अतएव हम लोग अब यहाँ अधिक दिन नहीं ठहर सकते। हम लोग यहाँ से आज ही विदा होंगे।

गोविन्दमाणिक्य—लड़के बहुत थके हुए हैं। उन्हें कुछ दिन विश्राम कर लेने दीजिए, तब फिर जब आपका जी चाहे, चल दीजिएगा।

इस पर लड़कों को कुछ क्रोध हो आया। उनमें जो सबसे बड़ा था उसने फ़क़ीर की ओर देखकर कहा—हम

लोग बिलकुल बच्चे नहीं हैं। जरूरत पड़ने पर हम लोग प्रसन्नता से कष्ट सह सकते हैं।

गोविन्दमाणिक्य की स्नेहभरी बातें न मालूम उन लड़कों को क्यों अच्छी नहीं लगतीं। वे गोविन्दमाणिक्य से सम्मानित होकर रहना नहीं चाहते।

रहने के लिए फ़क़ीर से विशेष आग्रह करना गोविन्दमाणिक्य ने उचित नहीं समझा। अतएव वे चुप हो रहे।

फ़क़ीर जिस समय जाने की तैयारी कर रहा था उसी समय क़िले में एक और अतिथि आया। उसे देखकर राजा और फ़क़ीर दोनों चकित हुए। फ़क़ीर का चेहरा उतर गया। उसे कुछ सूझ न पड़ा कि मैं अब क्या करूँ। वह चकित होकर इधर-उधर देखने लगा। राजा ने अपने अतिथि को प्रणाम किया। अतिथि और कोई नहीं, वही रघुपति है। रघुपति ने राजा को आशीर्वाद दिया—जय हो।

राजा ने व्यग्र होकर पूछा—आप नक्षत्र के पास से आ रहे हैं? क्या कोई नया हाल है?

रघुपति ने कहा—नक्षत्र राय कुशल-पूर्वक हैं। उनके लिये आप कोई चिन्ता न करें। (आकाश की ओर हाथ उठाकर) जयसिंह ने मुझे आप के पास भेजा है। वे अब इस संसार में नहीं हैं। जब तक मैं उनके मन की बात पूरी न करूँगा तब तक मुझे चैन कहाँ! मैं अब बराबर आपके साथ रहूँगा और आपके हर एक काम में यथासाध्य सहायता दूँगा।

कुछ देर तक रघुपति का आशय राजा की समझ में न आया। उन्होंने एक बार मन में सोचा कि रघुपति पागल तो नहीं हो गया है ? राजा ने उसकी बात का कुछ जवाब न दिया।

रघुपति—मैं सब देख चुका, सुख किसी में नहीं है। हिंसा में सुख नहीं, रागद्वेष में सुख नहीं और प्रभुता पाने पर भी सुख नहीं है। आपने जिस मार्ग का अवलम्बन किया है उसी में सुख है। मैंने आपके साथ बड़ी शत्रुता की, आपके जी को दुखाया। हाय ! मैं आपको अपने आगे बलि देना चाहता था। आज मैं आपके पास अपने को सम्पूर्ण रूप से समर्पण करने आया हूँ।

गोविन्दमाणिक्य—आपने मेरा बड़ा ही उपकार किया। मेरे शत्रु, छाया की तरह, मेरे साथ लगे फिरते थे। आपने मुझे उनके पंजे से बचा लिया।

रघुपति ने इस बात पर विशेष ध्यान न देकर कहा—महाराज, मैं इतने दिनों से प्राणियों का रक्तपात करके जिस पिशाचिनी (हिंसा) की सेवा करता रहा हूँ वह अब मेरे ही हृदय का रक्त सोखने लगी है। लोहू की प्यासी उस जड़ता मूर्खता को छोड़कर मैं आपके पास आया हूँ। वह अब महाराज के राज्य में, देव-मन्दिरों में, नहीं है। अब वह राज-दरबार में प्रवेश करके सिंहासन पर चढ़ बैठी है।

राजा—देवमन्दिरों से जब वह दूर हो गई है तब धीरे-धीरे मनुष्यों के हृदय से भी हट जायगी।

पीछे से परिचित स्वर में यह सुन पड़ा—नहीं महाराज, मनुष्यों के ही हृदय यथार्थ मन्दिर हैं। उसी जगह तलवार पर सान चढ़ाई जाती है और उसी जगह शत-सहस्र मनुष्यों की हिंसा होती है। देवमन्दिर में तो उसका एक साधारण अभिनय होता है।

राजा ने अचम्भे के साथ पीछे की ओर घूमकर देखा कि हँसते हुए प्रसन्नमूर्ति बिल्वन खड़े हैं। राजा ने उन्हें प्रणाम करके रुद्ध-स्वर में कहा—आज मेरे आनन्द की सीमा नहीं है।

बिल्वन ने कहा—महाराज ने अपने अन्तःकरण को जीत-कर मानो सारे संसार को जीत लिया है। इसी से आज आपके द्वार पर शत्रु-मित्र सभी आकर समान भाव से खड़े हुए हैं।

फ़क़ीर कुछ आगे बढ़कर बोला—महाराज, मैं भी तुम्हारा एक बड़ा दुश्मन हूँ, मैं भी आज अपने को तुम्हारे हाथ अर्पित करता हूँ। उसने रघुपति की ओर उँगली उठाकर कहा—यह ब्राह्मण मुझे पहचानता है। मैं ही शुजा हूँ। बङ्गाल का नवाब मैं ही हूँ। मैंने ही तुमको निरपराध निर्वासित किया और उस पाप का उचित दण्ड पाया। मेरे भाई की हिंसा-पिशाचिनी, मेरे रुधिर की प्यासी होकर, आज गली-गली मेरे पीछे लगी फिरती है। अपने राज्य में मुझे पाँव रखने को भी कहीं जगह नहीं। मैं अब वेष बदलकर नहीं रह सकता। मैं तुम्हारे पास अपने को समर्पित कर तुमसे रक्षा चाहता हूँ।

राजा ने नवाब को अपने गले से लगाया और कहा—आज मेरे सौभाग्य का क्या कहना है।

रघुपति—महाराज, आपके साथ शत्रुता करने में भी लाभ है। मैं आपके साथ शत्रुता करने जाकर ही आज आपके पास आ गिरा हूँ, नहीं तो किसी समय आपको थोड़े ही पा सकता।

बिल्वन ने हँसकर कहा—ठीक है, फन्दे में फँसकर अगर कोई फन्दे से निकल भागने की चेष्टा करे तो उसका गला और भी फँस जाता है।

रघुपति—मैं अब निर्द्वन्द्व हो गया। मुझे अब कोई चिन्ता नहीं। मुझे शान्ति मिल गई।

बिल्वन—शान्ति-सुख तो अपने हृदय के भीतर ही है। लोग उसे ढूँढ़ते नहीं। भगवान् ने मानो मिट्टी के बर्तन में यह अमृत भर रक्खा है; परन्तु किसी को विश्वास नहीं कि यह अमृत है। धक्का लगकर जब बर्तन फूटता है तब बहुत दिन बाद कहीं अमृत का स्वाद मिलता है। भला, ऐसी अनूठी चीज़ कहीं ऐसे पात्र में रक्खी जाती है।

इसी समय हुल्लड़ मचाते हुए बहुत से छोटे-बड़े लड़के क़िले के अन्दर आ पहुँचे। राजा ने बिल्वन ठाकुर से कहा—स्वामीजी, देखिए, ये सभी मेरे ध्रुव हैं। उन्होंने लड़कों की ओर उँगली उठाई।

बिल्वन ने कहा—जिस एक ध्रुव की बदौलत तुम्हें इतने ध्रुव मिले हैं, वह तुम्हें भूला नहीं। मैं अभी उसे लाये देता हूँ

वे बाहर गये और कुछ देर बाद ध्रुव को गोद में लिये हुए लौट आये। उन्होंने राजा की गोद में ध्रुव को रख दिया। राजा ने उसको छाती से लगाकर कहा—ध्रुव।

ध्रुव कुछ न बोला। वह चुपचाप राजा के कन्धे पर सिर रखकर रह गया। बहुत दिनों के बाद भेंट होने पर शायद उस बालक के छोटे से हृदय में कुछ ग्लानि और सङ्कोच सा हो आया। उसने राजा के गले से लिपटकर अपना मुँह छिपा लिया।

राजा ने कहा—और तो सब हुआ, केवल नक्षत्र ने मुझे एक बार भाई नहीं कहा।

शुजा ने बड़ी फुरती से कहा—महाराज, और लोग भाई की तरह भले ही व्यवहार करें पर सगा भाई भाई का सा व्यवहार नहीं करता।

शुजा के हृदय में अब तक भाई का व्यवहार बरछी की तरह चुभ रहा है।

उपसंहार

इस जगह इतना जान लेना आवश्यक है कि वे तीनों लड़के, जो पुरुष के वेष में थे, शुजा की तीनों लड़कियाँ थीं। मक्का जाने के विचार से शुजा चटगाँव के बन्दर पर गये थे, किन्तु उनके अभाग्य से अधिक वर्षा होने के कारण एक भी ज़हाज़

उन्हें न मिला। आखिर हताश होकर वहाँ से लौटते समय रास्ते में गोविन्दमाणिक्य के साथ क़िले के भीतर उनकी भेट हुई। शुजा कुछ दिन उसी क़िले में रहे। अन्त में फिर उन्हें खबर मिली कि बादशाह की सेना मेरी तलाश में घूम रही है। तब गोविन्दमाणिक्य ने सवारी आदि का बन्दोबस्त करके अधिक नौकरों के साथ उन्हें सम्मानपूर्वक अपने मित्र अराकान के राजा के पास भेज दिया। शुजा ने चलते समय गोविन्दमाणिक्य को अपनी एक बहुमूल्य तलवार उपहार-स्वरूप दी।

इस बीच में रघुपति और बिल्वन के साथ मिलकर राजा सारे गाँव के लोगों को अच्छे रास्ते पर ले आये। राजा का वह क़िला मानो सारी बस्ती का प्राण हो उठा।

इस प्रकार ६ वर्ष बीत जाने पर छत्रमाणिक्य की मृत्यु हुई। गोविन्दमाणिक्य को फिर सिंहासन पर बैठाने के लिए त्रिपुरा से दूत आये। राजा ने कहा—मैं अब अपने देश को लौटकर न जाऊँगा।

बिल्वन ने समझाकर कहा—महाराज, ऐसा न कीजिए। जब धर्म स्वयं दरवाज़े पर आकर पुकार रहा है तब उसका अनादर करना उचित नहीं।

राजा ने अपने विद्यार्थियों की ओर देखकर कहा—मेरी इतने दिनों की आशा और इतने दिनों का काम अधूरा ही रह जायगा।

बिल्वन—आपका काम मैं पूरा करूगा।

राजा ने कहा—आप यदि यहाँ रहेंगे तो मेरा वहाँ काम आपके बिना पूरा न होगा।

बिल्वन—अब आपको मेरी कोई आवश्यकता नहीं। अपने काम को आप बखूबी सँभाल सकते हैं। मैं कभी-क आपसे मिलता रहूँगा।

ध्रुव को लेकर राजा अपने राज्य में गये। ध्रुव अब वै बालक नहीं है। उसने बिल्वन की कृपा से संस्कृत भाषा सी कर शास्त्र पढ़ने में मन लगाया है। रघुपति ने फिर अप पुरोहिती ग्रहण की। इस बार मन्दिर में आकर मानो उस मृत जयसिंह को जीवित दशा में पाया।

इधर अराकान के राजा ने शुजा के साथ विश्वासघ किया। उसने शुजा को मारकर उसकी छोटी लड़की से ब्य कर लिया। अभागे शुजा के ऊपर अराकान के राजा निर्दयता का वृत्तान्त सुनकर गोविन्दमाणिक्य बहुत दुखी हुए शुजा के नाम को चिरस्मरणीय करने के लिए उन्होंने उस उ हार-स्वरूप तलवार के बदले बहुत धन खर्च करके कुमिल्ला शह में एक बड़ी मनोहर मसजिद बनवा दी। उक्त स्थान शुजा-मसजिद के नाम से वह अब तक मौजूद है।

गोविन्दमाणिक्य के प्रयत्न से कितने ही नये गाँव-नगर ब गये। उन्होंने अच्छे-अच्छे विद्वान् ब्राह्मणों को बहुत स ज़मीन, ताम्रपत्र पर सनद लिखकर, दान करदी। महारा

गोविन्दमाणिक्य ने कुमिल्ला के दक्खिन बातिसा गाँव में एक बहुत बड़ा तालाब खुदवाया। उन्होंने और भी कितने ही अच्छे-अच्छे कामों में हाथ लगाया पर उन्हें सम्पन्न न कर सके। वे १६६९ ईसवी में इस संसार को त्यागकर सुरपुर चले गये।

समाप्त

शेष दो अनुच्छेद (पाराग्राफ़) बाबू कैलासचन्द्रसिंह-प्रणीत त्रिपुरा के इतिहास से उद्धृत हुए हैं।